

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 2 अंक 2

अक्टूबर-दिसम्बर 2004

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

डॉ. लोकेशचन्द्र

निर्मल वर्मा

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

आस्था भारती

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

अणु डाक : asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. संस्कार एवं संस्कृति: साइबेरिया के मनोगगन में लोकेशचन्द्र	7
2. भारतीय परम्परा में नारी की अस्मिता यशदेव शल्य	15
3. उन्नीसवीं सदी का नव-जागरण, सामाजिक चेतना और राष्ट्रीयता : एक पुनर्दृष्टि सत्यमित्र दुबे	25
4. चित्तोत्कर्ष और सृजन मदनमोहन तरुण	45
5. सम्पादन-कला के मर्मज्ञ : आचार्य शिवपूजन सहाय श्रीरंजन सूरिदेव	54
6. हिन्दी के सांस्कृतिक शिल्पकार : आचार्य शिवपूजन सहाय कर्मन्दु शिशिर	61
7. अंकीया नाटकों के स्रोत एवं उनकी विशेषताएँ धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री'	67
8. बौद्ध रवामती और उनकी रामायण विजयराघव रेड्डी	77
9. भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप का विकास परमानन्द पांचाल	83

10. कौशिकीकच्छ में पल्लवित बांगला साहित्य बच्चा यादव	89
11. लोक-विज्ञान तथा साहित्य-साधना (पुस्तक-समीक्षा) डॉ. विष्णुदत्त शर्मा	101
12. पाठकीय प्रतिक्रिया	105

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

बौद्धिक दरिद्रता के खतरे

कई कारणों से आज हमारा देश, हमारा समाज खण्डित जीवन-दृष्टि एवं बौद्धिक उलझाव का शिकार होता जा रहा है। बौद्धिक दरिद्रता तथा उससे उत्पन्न खतरे लगातार बढ़ रहे हैं। वैचारिक धुंध की सघनता, उसका विस्तार चिन्ता का कारण बनता जा रहा है। आज जिन्हें देश तथा समाज को दिशा देनी चाहिए, वे स्वयं दिग्भ्रमित हैं। वे खेमेबाजी करते हैं; संवादहीनता को बढ़ावा दे रहे हैं। विचार के स्रोत सूख रहे हैं; चिन्तन कम हो रहा है; चिन्ताएँ बढ़ रही हैं। इस स्थिति के लिए आज सबसे अधिक उत्तरदायी हमारी शिक्षा प्रणाली ही है।

पाठ्यक्रम एवं पाठ्य-पुस्तकों का बोझ, छात्रों के जीवन तथा परिवेश से पढ़ाई जाने वाली बातों का दूर का भी संबंध न होना, गलत परीक्षा प्रणाली, आदि हमारी विद्यालयी शिक्षा को उबाऊ बनाते हैं; छात्रों को उससे काटते हैं। पठन आनन्ददायक नहीं हो पाता है। छात्रों का न तो शिक्षण-संस्थाओं से और न पुस्तकों से लगाव हो पाता है। अधिकांश छात्र पाठ्य-पुस्तकें भी नहीं पढ़ते। वे नोट पढ़कर परीक्षा की तैयारी करते हैं; परीक्षा में आनेवाले कुछ संभावित प्रश्नों का उत्तर रटकर परीक्षा में बैठते हैं और परीक्षा समाप्त होते ही अधिकांश पढ़ी बातों को भूल जाते हैं। अंततः शिक्षा के नाम पर उनके दिमाग में कुछ बेतरतीबवार सूचनाएँ ही रह जाती हैं। ऐसी शिक्षा उन्हें अपने समाज, अपने परिवेश, अपनी संस्कृति तथा अपनी भाषा से काटती है। यह शिक्षा मात्र सूचित करती है, सोचने की क्षमता नहीं देती। यह छात्रों को अपने पैरों पर खड़ा होना नहीं सिखाती। परिणाम सामने है। हम अपनी शिक्षण संस्थाओं में ऊर्जावान, मेधावी, आशा से भरेपूरे बच्चे भेजते हैं। शिक्षण संस्थाएँ उनकी समस्त ऊर्जा सोख लेती हैं; उनकी मेधा को अनुर्वर, निर्वीर्य बनाती हैं। विश्वविद्यालयों से डिग्री लेकर निकले छात्र असमय बूढ़े हो जाते हैं। उनका समस्त तेज छिन जाता है। वे न किसी काम के लायक होकर निकलते हैं और न उन्हें काम मिलता है। उनकी दशा बाजार के बँधुआ मजदूरों से भी गयी बीती होती है। उनके द्वारा दी जानेवाली शिक्षा छात्रों को असहाय बनाती है। स्थिति यह है कि जहाँ भी काम की जरा भी आशा दिखायी देती है, भीड़ लग जाती है, चाहे वह होटल प्रबंधन का काम हो या फैशन डिजाइन का।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में बदलाव की बात लगातार की जाती रही है। कई अच्छे शिक्षा आयोग बने। उनकी अच्छी-अच्छी रिपोर्टें आयीं। आखिर उन पर ईमानदारीपूर्वक अमल क्यों नहीं हुआ? ऐसा कब होगा? कब तक हम शिक्षा प्रणाली में बदलाव ला पायेंगे? बदलाव के अवरोधक तत्त्व किन निहित स्वार्थों की पूर्ति के

लिए कार्य कर रहे हैं? बदलाव के न लाने के दोषी कौन हैं? क्या उन्हें कठघरे में खड़ा करने का समय नहीं आया है? कुछ और प्रश्नों का उत्तर आवश्यक है। क्या हमारी शिक्षा व्यवस्था विदेशों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए वेतनभोगी (mercenaries) पैदा करने के लिए ही बनी है? वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत दी जानेवाली शिक्षा राष्ट्र/समाज की समस्याओं के प्रति जागरूकता पैदा क्यों नहीं करती? वह हमारी संवेदना को कुंठित क्यों करती है? राष्ट्रीय/सामाजिक एवं स्वयं अपनी सुरक्षा के बढ़ते खतरों के बावजूद इस देश का पढ़ा-लिखा व्यक्ति इतना आत्म-तुष्ट क्यों है? यह व्यवस्था मौलिक विचारों के उत्पादन में इतनी अक्षम क्यों है?

भयंकर आर्थिक शोषण के अतिरिक्त, अंग्रेजों ने अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए हमारे इतिहास, समाज, भाषा, संस्कृति आदि की गलत व्याख्या की। आजादी के आधी शताब्दी बीत जाने पर भी हम अपने बच्चों को वही पढ़ाते हैं, जो अंग्रेजों के समय में पढ़ाया जाता था। इससे इस देश के विशिष्ट वर्ग (एलिट) का स्वार्थ सध रहा है। वह नहीं चाहता कि इस देश की जनता सही बातें पढ़े-लिखे, समस्याओं पर विचार करे और उनके गलत कामों के लिए उन्हें कठघरे में खड़ा करे, उन्हें दण्डित करे। सड़ी-गली शैक्षिक व्यवस्था बनाए रखने में इस देश के विशिष्ट वर्ग का अल्प-कालिक स्वार्थ सधता है, लेकिन देश और समाज कमजोर होता है। दुर्भाग्यवश इस गलत काम में उन्हें सबसे अधिक मदद इस देश के बौद्धिक दलालों से मिल रही है। अंग्रेजों के राज में उनका प्रभाव बढ़ा, लेकिन उतना नहीं जितना आज है। उनका आतंक भी पहले इतना कभी नहीं रहा।

मेरे सामने किसी सांसद के कोष से बना भव्य पुस्तकालय भवन खड़ा है। भवन खड़ा करने में लाखों लगे हैं। पुस्तकें नहीं हैं। भवन निर्माण के लिए पैसे हैं; पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के लिए नहीं। ऐसा या तो स्वस्थ सोच के अभाव में हो रहा है या बहुत ऊपर से आरोपित किसी षड्यंत्र के तहत। दोनों ही बातें स्वीकार नहीं की जा सकतीं।

हमारे बौद्धिकों का एक तबका प्रायोजित पठन-पाठन का पक्षधर रहा है। भारतीय शिक्षण संस्थाओं पर उनका वर्चस्व भी रहा है। उनके प्रभाव या अस्वस्थ सोच अथवा स्वस्थ व्यवस्था के अभाव में यह आवश्यक नहीं कि विश्वविद्यालयों/शिक्षण संस्थाओं के पुस्तकालयों में अच्छी पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ पहुँच सकें। आवश्यक है कि उनकी खरीद में खुलापन लाया जाए। पुस्तकें/पत्र-पत्रिकाएँ बौद्धिक दरिद्रता दूर करने में सबसे अधिक सहायक हो सकती हैं। शिक्षा व्यवस्था में भी शीघ्र बदलाव लाया जाना आवश्यक है। देश बौद्धिक दरिद्रता के खतरे मोल नहीं ले सकता।

ब्रज बिहारी कुमार

संस्कार एवं संस्कृति: साइबेरिया के मनोगगन में

डॉ. लोकेशचन्द्र*

“जब तक मेरी एक आँख में ज्योति है मैं डॉ. लोगेशचन्द्र को देखना चाहता था। आपको देखकर आनन्द के सागर में निमग्न हूँ।” ये शब्द हैं पण्डित हाम्बोलामा जाम्बलूदोर्ज गोम्बोयेफ के। स्थान हैशिविर की विशाल हिमस्थलियों के बुर्यात गणराज्य की राजधानी उलानुदे का विमानक्षेत्र। अगस्त 1972 की ढलती दुपहरी। साँय-साँय करती हड्डियों को चीरती हुई हिममयी वायु। पण्डित हाम्बोलामा सोवियत-संघ के बौद्ध संघराज हैं। उनके साथ दुभाषिया, प्राध्यापक, राज्य-प्रतिनिधि, मन्दिर के भिक्षु-गण, आदि हैं। सबके हृदयों की ऊष्मा, मेरे शीत को दूर करती है। इस ऊष्मा में शिविर की शतियाँ प्रतिबिम्बित हैं। शिविर का निवासी भारत को पुण्यभूमि, तथागत की जन्मभूमि मानता है। भारतीय उसके लिए पुण्य पुरुष है। वर्तमान ऋतु में भी हलका-हलका पाला पड़ने लगा है। सोवियत संघ में सब कुछ पक्का और हृष्टपुष्ट था। सुदृढ़ मोटर में बैठ, हम सब इवोल्गा विहार की ओर चल पड़े। सड़कें कच्ची-पक्की हैं। गाड़ी हट्टी-कट्टी होने के कारण ही इन दुर्गम सड़कों को पार कर सकती है। गाड़ी के काँच बन्द कर दिए हैं। थोड़ा-सा खुलने पर ठण्ड की झंझा अन्दर आ जाती है। पण्डित हाम्बोलामा ने अपने स्नेहभरे हाथ मेरे हाथों में डाल दिए हैं। ऊबड़-खाबड़ मार्ग में मोटर यात्रियों को झूले देती जा रही है। हाम्बोलामा ने अपने हास्य-विनोद से मोटर के धक्कों को गौण बना दिया। मैंने पूछा आपने मन्दिर इतनी दूर क्यों बनाया। बोले, “मेरी इच्छा चलती तो और दूर बनवाता। मैं बूढ़ा हो गया। उत्कट इच्छा थी कि आपको फिर से अपने देश में देखूँ। एक सप्ताह से प्रतीक्षा कर रहा हूँ।” सारा मार्ग गाड़ी में अपनी भुजा मुझ पर रखे बैठे रहे।

रात्रि के 8.00 बजे मन्दिर पहुँचते ही मधुपर्क से स्वागत किया। मधुपर्क में दही, मधु, दूध और दाखें थीं। मेरी प्रगाढ इच्छा के कारण पहली बार शिविर के मन्दिर में ठहरना हुआ। मन्दिर का अतिथिवास लकड़ी का बना है। भूमि से दो फुट ऊँचे उठाकर निर्माण किया गया है। मुख धोने का प्रयत्न किया पर पानी इतना ठण्डा था

*प्रो. (डॉ.) लोकेशचन्द्र, भूतपूर्व सांसद, भारत विद्या के प्रकाण्ड विद्वान तथा ‘इण्टरनेशनल एकेडेमी ऑफ इण्डियन कल्चर’ के अध्यक्ष हैं।

कि मुँह को लगाना असंभव था। सबको हँसी आई फिर भी पानी उष्ण करके लाए। हाथ मुँह धोकर भोजन पर बैठे। भोजनकक्ष में आसन्दियों (कुर्सियों) की पीठ पर पद्म अंकित थे। शिविरदेश में पद्म अष्टमंगल में से एक है। प्रत्येक शिविर-वासी अष्ट-मंगल गिनवा सकता है पद्म, ध्वज, शंख, पूर्णकलश, चक्र, छत्र, मीन और श्रीवत्स। ये जीवन में सुख समृद्धि और शान्ति के दायक हैं। भोजन-कक्ष की भित्ति पर लेनिन महान् के दो चित्र और प्रधानमंत्री कोसिगिन का एक चित्र लटका था। दो घण्टे तक भोजन चलता रहा। सोवियत संघ में सायं भोज छः से आठ घण्टे तक चलता था। सोने के कक्ष में दुहरी भित्ति है। दो भित्तियों के बीच आग जलाने का स्थान है। शिविर के जंगलों से आए पेड़ों के बड़े-बड़े तने इसमें डाल दिए गए। घण्टे भर में कमरा उष्ण हो गया। सामने मन्दिरों के सुवर्णिम शिखर हैं। श्वेत रात्रि है। पर्वतों के आँचल में, पेड़ों की हरियाली में, लाल खम्बे और सुनहरे शिखरों की अनुपम छटा है। चारों ओर नीरव है, निर्वाण है। रात्रि की झुरमुट गहरी होती जा रही है। मन्दिरों की छतों से लटकती हुई सहस्रशः घण्टियाँ पवन के झोंकों से गुंजित हो रही हैं। सारा वातावरण ऐसा है कि साधना के लिए बना हो। रात ढलती जा रही है। सुखद निद्रा में सो गया।

प्रातः हो गई है। ‘स्नान कहाँ करेंगे’ भिक्षु ने पूछा। “जहाँ आप कराएंगे” मैंने उत्तर दिया। भिक्षु बोले, “हम नदी में स्नान करते हैं” और हंस पड़े। “आप नदी में स्नान नहीं कर सकेंगे। जैसे रूसी ‘बानिया’ अर्थात् बन्द कमरे में स्नान करते हैं वैसे ही आप स्नान करेंगे।” शिविर में दैनिक स्नान असंभव है।

अगले दिन पूर्वाह्न 11.00 बजे मन्दिर में अभिनन्दन हुआ। मन्दिर में सहस्र-बुद्ध प्रतिमाएँ, नवरत्न से लिखी हस्तलिपियाँ, विशाल पटचित्र, कांस्य-प्रतिमाएँ, और अनेक वाद्य थे। यह भवन 1972 में ही पूरा हुआ था और फरवरी में इसकी प्राण-प्रतिष्ठा का समारोह सम्पन्न हुआ था। सात सौ व्यक्ति बैठ सकते हैं। वाद्य बजने लगे और पण्डित हाम्बोलामा ने डमरू और वज्रघण्टा से तान्त्रिक पूजा का प्रारम्भ किया। शिविर-वासियों के मेघमन्द्र स्वर में उच्चारित मन्त्रों और वाद्यों के ओजस्वी स्वर से सारा वायुमण्डल ऊष्मा से भर गया और बाहर की उग्र शीत वायु को सब भूल गए। मेरी दृष्टि कभी-कभी इधर-उधर चली जाती और कलाकृतियों का कालनिर्णय मन में प्रश्न बन जाता। नागालंकृत ढोल पर आघात होते ही पाठ की ओर ध्यान चला जाता। मंजुश्री-हृदय और गगनविमलोष्ण-धारणी में संस्कृत के शब्द सुनाई देने लगते। घण्टे तक पूजा चली। समाप्त होने पर मैंने पण्डित हाम्बोलामा से हस्तलिपि दिखाने का निवेदन किया। उन्होंने मुझे भारत लाने के लिए उधार दे दी। इसमें संस्कृत संगीति रंजना और स्वयंभूज्योति लिपियों में लिखी है।

मन्दिर के पुस्तकालय में विशिष्ट निधियाँ हैं। 1962 में बना तान्त्रिक देवता हेरुक का मण्डल मध्य में है। कलाकार शनैः-शनैः दिवंगत होते जा रहे हैं और नई पीढ़ी शिल्पशास्त्रों से अनभिज्ञ है। इसलिए पण्डित हाम्बोलामा जीवित कलाकारों से कुछ-कुछ करवाते रहते थे जिससे परम्परा की शिल्प-कृतियाँ सुरक्षित रहें। शिविर में

अनेक मन्दिर थे। साम्यवाद की विकरालताओं में ध्वस्त कर दिए गए। इनकी निधियाँ जब कभी उपलब्ध होती हैं तो इवोल्गा विहार में आ जाती हैं। त्सुगोल विहार से प्राप्त नव-रत्न-लिखित हस्तलिपि देखी। सहस्रो हस्तलिपियाँ देखते-देखते अपराह्न हो गया। ये पुस्तकें अच्छा विश्राम कर रही हैं। बाहर निकले तो देखा कि द्वार के ऊपर ॐ चाँदी में अंकित है।

पण्डित हाम्बोलामा के साथ भोजन किया। बुर्यात गणराज्य की ओर से श्री ओछिर्जापू उपस्थित थे। श्री ओछिर् बोले, “मन्दिर पण्डित हाम्बोलामा का शाश्वत स्मारक है। आप 79 वर्ष के हैं। 75वीं वर्षगाँठ पर सोवियत शासन ने आपको शान्ति के संवर्धन हेतु अलंकृत किया है।” ओछिर् संस्कृत के ‘वज्र’ शब्द का अपभ्रंश है। बुर्यात भाषा में रत्न ‘एर्देनि’ बन गया, आदित्यवार ‘आदिया’ हो गया, महाकाल ‘महागाला’ हो गया। ओछिर्जापू हँसते हुए बोले, “हम आपके समान शुद्ध नहीं। मांस खाते हैं और शुद्ध शब्द अशुद्ध हो जाते हैं। जितना मांस एक रूसी सात दिन में खाता है उतना बुर्यात-वासी एक दिन में खा जाता है।” कहते ही ठहाका मारकर हँसने लगे। फिर से बोले, “ग्रीष्मकाल में बुर्यात लोग छुरी अन्दर रख देते हैं और केवल दूध के पदार्थ खाते हैं। वे ‘श्वेत भोजन’ करते हैं। पशुओं से कहते हैं शरत्काल तक अच्छे हृष्टपुष्ट हो जाओ।” मैंने कहा, “ओछिर्जापू जो मैं खाता हूँ, आप वह नहीं खा सकते।” ओछिर् बोले, “ओछिर्जापू जो मैं खाता हूँ, आप वह नहीं खा सकते।” ओछिर् बोले, “ऐसा कैसे हो सकता है।” मैंने फिर से कहा, “मेरा भोजन दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ हैं। क्या आप मेरा भोजन देंगे।” भारत से संस्कृत के ग्रन्थ बुर्यात जातियों के पास आए थे। शताब्दियों तक संरक्षित रखे गए।

मध्याह्न को इवोल्गा विहार के नए भवन में स्वागत आयोजित किया गया। इसमें 700 व्यक्ति बैठकर उपदेश सुन सकते हैं। प्रवेश करते ही भगवान बुद्ध और उनके दो पट्टशिष्य शारिपुत्र और मौद्गल्यायन की प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं। पार्श्व में भविष्य के तथागत मैत्रेय और अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ विराजमान थीं। जब मैत्रेय बुद्ध का तुषित स्वर्ग से अवतरण होगा तब धर्म का पुनरुत्थान होगा सोवियत सत्ता के स्थान पर संस्कार का नवजागरण होगा। बुर्यात बौद्धों के लिए मैत्रेय आशा के ज्योतिस्तम्भ थे और आज वह सत्य हो चुका है। बुर्यात में चारों ओर मन्दिरों का निर्माण हो रहा है। हाम्बोलामा अपनी परम्परा में 19वें संघराज थे। डमरू और वज्रघण्टा बजाते हुए हाम्बोलामा ने उपासना आरम्भ की। सामने सहस्र बुद्धों की 1000 प्रतिमाएँ विराजमान थीं। छत से पच्चीस कुलिक-राजाओं के थंका-चित्र लटक रहे थे। ये कुलिक-राजा कालचक्र-तंत्र की परम्परा से हैं जो कालान्तर में स्लेखों का संहार करके धर्म की स्थापना करेंगे। 10वीं शती में जब मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का संहार हो रहा था और इस्लाम की स्थापना होती जा रही थी, तब सीता-नदी (आधुनिक नाम-सीरु दरिया) पर इस तंत्र की रचना हुई और भविष्यवाणी की गई कि एक दिन रुद्रचक्रिन् नामक कुलिक-राजा अधर्म का नाश करेंगे। ‘कुलिक’ शब्द

कल्की के रूप में दशावतार का दशम अवतार हैं। जयदेव की वाणी में

*स्लेच्छ-निवह-निधने कलयसि करवालं, धूमकेतुमिव किमपि करालम्।
केशव धृत-कल्कि-शरीर, जय जगदीश हरे॥*

विहार के उपदेश-भवन में मैत्रेय, सहस्रबुद्धों की सहस्रगुणित शक्ति, और कुलिक-राजाओं के पटचित्र, सब इस आशा के द्योतक थे कि एक दिन धर्म पूर्ण वैभव से उदय होगा। चारों ओर पर्वतों से घिरा था, बाहर उग्र शीत वायु बह रही थी, और अन्दर उपासना की निष्ठा मन में अलौकिक भावों का उभ्युदय था। महाबोधि-स्तूप और धान्यकटक-स्तूप परिसर को बोधि-प्राप्ति और अधर्म-संहार का क्षेत्र बना रहे थे। उपासना की समाप्ति पर ऊपर पुस्तकालय में अनेक ग्रन्थ देखे। चुगोल् विहार से आई हुई भद्रकल्पिक-सूत्र की हस्तलिपि नवरत्नों को पीसकर लिखी हुई थी। नौ पंक्तियाँ क्रमशः नीलमणि, सुवर्ण, चाँदी, नीला पत्थर मुमिन्, प्रवाल, मोती, तांबा, लोहा, शंख का पिसा रंग बनाकर लिखी थीं। पुस्तकालय में हस्तलिपियों की भरमार थी और मध्य में भगवान हेवज्र हेरूक का पुर-मण्डल था। यह 1972 में बनाया गया था जबकि इस परम्परा के अन्तिम शिल्पी जीवित थे। साथ में मन्दिर का पुराना भवन था जिसमें कंजूर के 104 भाग और तंजूर के 226 भाग सुरक्षित थे। कंजूर में बुद्ध-वचन और तंजूर में उन पर टीकाएँ हैं। तंजूर में मध्यमक दर्शन, अनेक संस्कृत व्याकरणों के तिब्बती अनुवाद (आज कई के संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं), रसायन-शास्त्र, छन्दःशास्त्र, शिल्प आदि अनेक विद्याओं के शास्त्र हैं। पुराने मन्दिर की निधियाँ धीरे-धीरे नए में स्थानान्तरित हो जाएंगी। नया मन्दिर भक्तजनों ने आठ मास में श्रमदान से बनाया। रक्त और सुवर्णमि छतों और स्तम्भों से इसकी दिव्य छटा को चित्रित करने के लिए चेक किनो की चित्रणमण्डली आई हुई थी। अवलोकितेश्वर की प्रतिमा के एक हाथ में बड़ी आँख (अक्षिगोल) थी। पण्डित हाम्बोलामा की एक आँख ही रह गई थी और बुर्यात के श्रद्धालुजनों ने उनकी धर्मसेवाओं के उपलक्ष में यह मन्दिर और उसमें एकनेत्र अवलोकितेश्वर की प्रतिमा की प्राणप्रतिष्ठा की थी। साम्यवाद की बिभिषिका होने पर भी यह श्रद्धाजन्म साहस था। उन वर्षों में (1972-1990) धर्म का प्रचार अथवा उसके छोटे-से-छोटे प्रकटीकरण का अर्थ मृत्युदण्ड था। साम्यवाद के युग में शताब्दियों पुराने विहार और उनके विराट् पुस्तकालय जलाकर नष्ट कर दिए गए थे। यह दसवीं शताब्दी का बीसवीं में पुनरागमन था। एग्थु विहार बहुत बड़ा था जहाँ कई सौ भिक्षु साधना करते थे और नालन्दा के पाठ्यक्रम का अनुसरण करते थे। पर 1972 में इसका कोई अवशेष नहीं था। आगिंस्की छोटा विहार था, परन्तु योरोपीय और रूसी विद्वानों ने यहाँ भारतीय दर्शन का अध्ययन कर, इसे बुर्यात में विख्याततम बना दिया था। रूसी दार्शनिक शेचेर्बात्स्की ने भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास इसी आगिंस्की विहार में लिखा था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी ‘भारत की खोज’

नामक पुस्तक में उल्लेख किया है कि किस प्रकार बौद्ध भिक्षुओं ने साम्यवादियों को समझाने का प्रयास किया कि वे साम्यवाद के निकट हैं और उन्हें जीने दिया जाए। ये विवाद भी आगिंस्की विहार में हुए थे।

विज्ञान-विहार (Academy of Sciences) उलानुदे में श्चेर्बात्स्की के दो जीवित शिष्यों को मिलने का सौभाग्य हुआ। मेरे पिताश्री आचार्य रघुवीर श्री श्चेर्बात्स्की के मित्र थे और स्टालिन युग में भी कभी कोई पत्र आ जाता था। डॉ. श्रीमती गेरसिमोवा बौद्ध कला और शिल्पशास्त्रों के सम्बन्ध पर कार्य कर रही थीं। प्रो. सेमिचोफ अभिधर्मकोश के तिब्बती अनुवाद पर अनुसंधान-रत थे। इनके शिष्य बौद्ध दर्शन और भाषा-विज्ञान का अनुसंधान करने में लगे थे। बौद्ध दर्शन का अध्ययन संकटग्रस्त होने के कारण नई पीढ़ी के लिए चुनौती थी भाषा-विज्ञान, ब्रह्माण्ड-विज्ञान आदि के बहाने से ही इनको पढ़ते थे, लिखते कम अथवा नहीं थे।

पण्डित हाम्बोलामा के सम्बन्धी डॉ. बाजारोन् आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के विशेषज्ञ थे। उनकी आयुर्वेद में गहरी रुचि थी। अष्टांगहृदय का मोंगोल में अनुवाद किया गया था। इसके अस्सी के लगभग बड़े-बड़े चित्रों में शरीर का अस्थि-विन्यास, शल्य करने के उपकरण, जड़ी-बूटियों के रंगीन चित्रों का संग्रह था। अष्टांगहृदय के समस्त विषयों को इनके द्वारा विद्यार्थी हृदयंगम कर सकते थे। लगभग चार सौ वर्ष पुरानी ये सारणियाँ भारतीय आयुर्वेद के लिए ऐतिहासिक और व्यावहारिक महत्त्व की हैं। तिब्बती और मोंगोल भाषाओं में सहस्रों हस्तलिपियाँ सुरक्षित हैं। हाम्बोलामा ने मुझे मंजुश्री-नाम-संगीति की संस्कृत और तिब्बती भाषाओं की काष्ठलिपि दी।

30 अगस्त को विश्वविख्यात आगिंस्की विहार में गए। यहाँ यमान्तक का पुर-मण्डल था। मण्डल चित्ररूप में न होकर प्रासाद के रूप में था। अनेक थंका और मूर्तियाँ थीं। मैत्रेय के उत्सव के लिए सब साज-सज्जा रखी हुई थी। उत्सव-मूर्ति, रथ और उसके लिए दो हरे रंग के घोड़े और अनेक मैत्रेय-पूजा-विधियाँ थीं। भगवान बुद्ध को चतुर्थमास की 15वीं तिथि को सम्बोधि प्राप्त हुई थी। 49 दिन तक भगवान ने धर्मदेशना नहीं की। छठे मास की चौथी तिथि को धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। हाम्बोलामा बोले, “हमें आशा है कि आप आगामी मैत्रेय उत्सव में आएँगे।” मैत्रेय दोनों पैर लटका कर भद्रासन में बैठे हैं अर्थात् वे उठनेवाले ही हैं, शीघ्र ही आएँगे और पुनः धर्मदुन्दुभि का निनाद होगा। मैत्रेय के दोनों ओर गगनविमल और मंजुश्रीगर्भ बोधिसत्त्व विराजमान थे। गगनविमल ने अतीश दीपंकरश्रीज्ञान के रूप में अवतार लिया और मंजुश्रीगर्भ में चोंखापा के रूप में। दोनों ने तिब्बत और मोंगोल देशों में तथागत के धर्म का उपदेश प्रसारित किया। हाम्बोलामा बोले, “हमें आशा है कि आप पुस्तक लिखेंगे, उससे मैत्रेय का आगम और धर्म-वर्धन होगा और एक दिन बुर्यात में फिर से धर्मादय होगा। आपके प्रयासों से धर्म और लोक का कल्याण होगा।”

सायं 6.30 बजे उलानुदे से चले। हाम्बोलामा ने मंगलवस्त्र से आशीर्वाद दिया और प्रो. पूबायेफ बोले “सर्व-मंगलम्”।

विमानक्षेत्र पर श्री बाल्दोर्जे बादारायेफ आए हुए थे। इनके नाम का अर्थ है श्रीवज्र भद्र-पुत्र। बादारा संस्कृत भद्र का उच्चारण है। इनके पिता का नाम भद्र था। इन्होंने कहा, “मोंगोल पढ़ने के लिए मनुष्य का मन चाहिए, तिब्बती के लिए बोधिसत्त्व का हृदय और संस्कृत के लिए बुद्ध का हृदय। प्रत्येक व्यक्ति नहीं पढ़ सकता। मैं एक दिन आपसे संस्कृत पढ़ूँगा।” श्री बादारायेफ ने बौद्ध साहित्य के इतिहास पर मौलिक कार्य किया है। उलानुदे के इतिहास-संग्रहालय की निधियों का उल्लेख करते हुए बताया कि इसके भंडार में ‘चन्दन जोवो’ नामक प्रतिमा है। जब बुद्ध भगवान् अपनी माता मायादेवी को उपदीश देने के लिए त्रयस्त्रिंश देवलोक गए, तब कोसल के राजा प्रसेनजित् और वत्सराज्य के राजा उदयन भगवान् की अनुपस्थिति में उद्विग्न हो गए। उनकी सान्त्वना के लिए विश्वकर्मा ने वत्सराज के लिए गोशीर्ष चन्दन की प्रतिमा बनाई। यह सुनकर राजा प्रसेनजित् ने सुवर्ण-मूर्ति बनवाई। यह आख्यान एकोत्तरागम में आया है। इनमें से चन्दनमूर्ति चीन पहुँची। 1900 में चीन की बॉक्सर क्रान्ति के समय यह चाँदी देकर मोल ली गई और बुर्यात के एग्थु विहार में इसकी उपासना होने लगी। साम्यवादी क्रान्ति में विहार नष्ट किए जाने पर प्रतिमा इतिहास-संग्रहालय के भण्डार में रख दी गई।

श्री बादारायेफ ने बताया कि ऊँचे पर्वतों और निर्जन स्थानों में लकड़ी से बने घर हैं जिनमें थंका, प्रतिमाएँ और ग्रन्थ अज्ञातवास में हैं। साम्यवादी युग में बौद्ध ग्रन्थ आदि वर्जित थे और उनको रखने का अर्थ प्राणदण्ड था। बादारायेफ एक छोटे से गाँव में गए जहाँ 40-50 परिवार ही रहते थे। एक बूढ़ा सज्जन उन्हें पशुशाला में ले गया प्रतिमाएँ, पटचित्र, ग्रन्थ और कंजूर के सौ भाग थे। जब लेना चाहा, तो वृद्ध ने न कर दी। नदी के आगे चलते गए। छोटे से घर में योगी ध्यानमग्न था। पुस्तकों से भरा मन्दिर था। उसने कई पुस्तकें दे दीं, परन्तु बहुत अधिक छूट गईं। बादारायेफ मोटरकार मोल लेंगे और शेष भी ले जाएँगे। बोले, “काल निष्करुण है। लोग भी। मेरे पिता वैद्य थे। तिब्बती और मोंगोल ग्रन्थ पढ़ते थे। दूसरे विश्वयुद्ध में मर गए। बचपन में मैं दीपक स्वच्छ किया करता था इतना घिसता कि वे नए चमकते लगें। आलस्य करने पर मार पड़ती थी। दीपक चमकाते-चमकाते मैं श्रम करना सीख गया और आज उससे मेरे मन का दीपक आलोकित है। मेरी विद्या उस आलोक से उजागर है।”

31 अगस्त को लेनिन्गरी पहुँचे। एर्मिताज संग्रहालय में श्री गेन्नादि ने बताया कि वे तिब्बती कला पर लिख रहे हैं। एर्मिताज में थंकाओ का अद्वितीय संग्रह है। खाराखोतो से 13वीं शती के थंका, मंचु सम्राटों के बुने हुए और अनुपम कलाकारों द्वारा बनाए थंका, चीन के विशाल पट, तिब्बत से बुर्यात तीर्थयात्रियों द्वारा संकलित थंका देखे। श्री गेन्नादि बोले, “मैं आपके साथ कलाकृतियों को देखना चाहता हूँ और उनकी विभिन्न शैलियों को समझना चाहता हूँ।” मैंने कहा, “आप मेरे साथ प्रतिमाओं

की नेत्र-भंगिमाओं को योग की दृष्टि से, तथा विभिन्न कालों और प्रदेशों की शैलियों की दृष्टि से देखिए।” डेढ़ घण्टा एक-एक प्रतिमा और पट-चित्र की नेत्रांकन की विशेषताएँ समझाई। बौद्ध शिल्पशास्त्रों के अनुसार सम्पूर्ण चित्र बन जाने पर पूर्णिमा के दिन आँखें बनाई जाती थीं। पूर्णिमा के चाँद की भाँति पूर्णतः विशालाक्ष प्रतिमा अन्तर्ज्योति की प्रतीक होती है।

लेनिन्गरी के विश्वविद्यालय में तिब्बती ग्रन्थ देखे जिन्हें प्रो. वासिल्येफ ने चीन के 27 वर्ष के आवास में एकत्र किया था। इनमें महाव्युत्पत्ति नामक संस्कृत और तिब्बती का कोश शुद्ध पाठों के कारण महत्वपूर्ण था। प्रो. कुन्नेत्सोफ ने प्राचीन तिब्बती मानचित्र का अध्ययन किया था जिसमें ईरान की दूसरी शताब्दी ईसापूर्व की राजनैतिक स्थिति प्रतिबिम्बित थी। सम्भवतः यह संसार का प्राचीनतम मानचित्र है। ये प्राध्यापक आयुर्वेद का अनुसंधान भी कर रहे थे। श्री पाञ्चायेफ इनके सहयोगी थे। ये आयुर्वेद से असाध्य रोगों की चिकित्सा के लिए सोवियत संघ में विख्यात थे। इनके पितामह स्टालिन की चिकित्सा कर चुके थे।

लेनिन्गरी के धर्मतिहास एवं नास्तिकता संग्रहालय में बौद्ध संग्रह देखने गए। यहाँ चीन से प्राप्त विराट पटचित्र पूरी भित्ति को घेरे थाशाक्यमुनि पाँच सौ अर्हतों से परिवृत थे। रेखाओं की सूक्ष्मता, रंगों की पारदर्शिता और साधना के हाथों से अभिभावित यह पट किसी चीनी सम्राट के पूजा-भवन से होगा। 19वीं शती के अन्त में बुर्यात से आई पावन हाथी की जीवन परिमाण की प्रतिकृति थी। उत्सव में इस पर मैत्रेय की प्रतिमा को सजाकर भिक्षु एवं भक्त रस्सियाँ बाँधकर खींचते थे। जगन्नाथ-पुरी की रथयात्रा के समान विराट पर्व होता था। जिसमें दूर-दूर से भक्तजन इकट्ठे होते थे। यह भविष्य के तथागत मैत्रेय के शीघ्र अवतरण की कामना थी। संग्रहालय के एक ओर सुखावती स्वर्गलोक की प्रतिकृति थी। सुखावती-व्यूह नामक संस्कृत ग्रन्थ में वर्णित सुखावती का यह दृश्य रूप था। संग्रहालय में 84 सिद्धों के 84 पट थे। झुरमुट रंगों में रेखित इन पटों में सिद्धों की साधनाओं की दिव्यता परिलक्षित थी।

विश्वविद्यालय में संस्कृत, तमिल, हिन्दी, मराठी, मलयालम आदि अनेक भाषाओं के विद्वानों से मिलना हुआ। प्रो. दाम्दिन्सुरेन् मोंगोल भाषा में लिखी रामायण का संस्करण और अनुवाद बना रहे थे। विभिन्न हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर रामायण की चार कृतियाँ मिली हैं। ये चार भागों में रूसी व्याख्या के साथ छापेंगे। प्रो. दाम्दिन्सुरेन् की अँगूठी में विश्ववज्र बना था।

लेनिन्गरी में जार का राजप्रासाद Petershof रूसी गौरव का प्रतीक है। गौरव का उल्लेख करते हुए दुभाषिया ने सुनाया कि रूस का कितना विशाल साम्राज्य था। सम्राज्ञी कैथरीन ने रूस के पूर्वतम नगर काम्बत्का से दस कन्याओं को राजधानी देखने के लिए बुलाया। काम्बत्का पूर्वतम भाग और लेनिन्गरी पश्चिमतम भाग है। इन्हें लेने के लिए सीमान्त-सेनापति को दायित्व सौंपा। जब वे इर्कुत्स्क पहुँचीं तब सन्तानवती थीं। जब तक लेनिन्गरी पहुँची, प्रत्येक का एक और भाई अथवा बहिन

भी था। यह रूस के विराट विस्तार का द्योतक था। लेनिन्गरी से काम्बत्का पहुँचने में 18 मास से अधिक लगते थे। इतिहास का मधु-संचय राष्ट्र के मन को नई ऊर्मियों से अनुप्राणित करता देख, सोचने लगा इतिहास का वज्रस्वर जीवन का नवोत्कर्ष है।

समीक्षार्थ पुस्तकें: प्राप्ति-स्वीकार

‘**मैं जगत की नवल गीता-दृष्टि**’, कविता संग्रह, मदनमोहन तरुण; प्रकाशक: तारुण्यम, पूणे; प्रथम संस्करण: 2004; पृष्ठ 172, मूल्य 100 रुपये।

‘**लक्ष्य-सोपान**’, केशिकान्त, काव्य, पाण्डुलिपि, पृष्ठ अपपप214य पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला, पंजाब।

‘**विचार और व्यंग्य**’ (वैचारिक आलेख एवं व्यंग्य संग्रह), लेखक एवं प्रकाशक: प्रो. कमला प्रसाद ‘बेखबर’, फारबिसगंज, बिहार; प्रथम संस्करण: 2004, 172 पृष्ठ।

‘**तीसरी दुनिया के लिए**’, कविता-संग्रह; कवि: डॉ. वरुण कुमार तिवारी, मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण: 2002; 80 पृष्ठ; मूल्य 50.00 रुपये।

‘**आज का समाजवाद**’, लघु कथा संग्रह; कृत नारायण प्यारा; रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया; प्रथम संस्करण: 2004; 64 पृष्ठ, मूल्य: 50 रु. (सजिल्द), 25 रु. (अजिल्द)।

‘**किंशुक कथा**’, कहानी-संग्रह; कृत नारायण प्यारा; रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया; प्रथम संस्करण: 2004; 160 पृष्ठ, मूल्य: 150 रुपये (सजिल्द), 50 रुपये (अजिल्द)।

‘**सदाकांक्षा**’, (रचनात्मक साहित्य वार्षिकी), संपादक, ‘सदाकांक्षा’, इस्लामी साहित्य संगम, दिल्ली; 144 पृष्ठ, मूल्य: 60 रुपये।

‘**आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा की आलोचना साधना**’, समालोचना, डा. विश्वनाथ प्रसाद; अयन प्रकाशन, नयी दिल्ली; प्रथम संस्करण: 2003; 186 पृष्ठ, मूल्य: 200 रुपये।

‘**आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में अभिव्यक्त इतिहासदर्शन**’, समोचना, डा. विश्वनाथ प्रसाद, मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2003; 160 पृष्ठ; मूल्य: 160 रुपये।

‘**काव्य और संस्कृति का अंतर्संबंध एवं अन्य निबंध**’, निबंध संग्रह, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद; मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण: 2004; 148 पृष्ठ, मूल्य: 150 रुपये।

‘**चंदवरदाई कृत प्रिथीराजरासउ’ (भाग एक: आदि पर्व से कैमास वध तक)**, प्रो. राजमल बोरा; मिलिन्द प्रकाशन, हैदराबाद; प्रथम संस्करण: 2004, 192 पृष्ठ, मूल्य: 200 रुपये।

‘**उज्जयिनी का प्राचीन इतिहास एवं सिंहस्थ महात्म्य**’, अनिल गुप्ता “अनिल”, महाकाल भ्रमण प्रकाशन, उज्जैन, प्रथम संस्करण: संवत् 2061/ 2004 ई.; 142 पृष्ठ, मूल्य: 30 रुपये।

भारतीय परम्परा में नारी की अस्मिता

यशदेव शल्य*

‘भारतीय परम्परा’ इसका कोई स्पष्ट अर्थ है, ऐसा मुझे नहीं लगता, क्योंकि भारत का इतिहास बहुत सुदीर्घ है और इसकी मानस-रचना अनेक विचार-धाराओं और भाव-धाराओं का संकुल है। भारत की परम्परा में यदि किसी बात में नैरंतर्य देखा जा सकता है तो इसमें कि यहाँ विरोधी विचारों के प्रति कभी असहिष्णुता नहीं रही, विचारक विरोधी पक्ष को आदरपूर्वक प्रस्तुत करके उसका खण्डन करते हुए ही अपना विचार प्रस्तुत करते थे और उसे ‘पूर्वपक्ष’ कहा जाता था। यहाँ वेदों के काल में ही वेद-विरोधी भी रहे और इस युग के क्रम में ही बुद्ध, महावीर, मन्खलि घोषाल, अजित केशकंबली और चारवाक आदि जैसे अनेक अत्यन्त प्रभावशाली वेद-विरोधी सम्प्रदायों के प्रवर्तक रहे। इसी प्रकार 19वीं तथा आरम्भिक 20वीं शताब्दी के घोर पौराणिक और स्मृति-प्रमाणता के युग में इसके घोर विरोधी सम्प्रदायों/आर्यसमाज तथा ब्रह्म समाज का और स्मृति-विरोधी शूद्र-आन्दोलनों का प्रवर्तन हुआ। इस प्रकार के विचार-स्वातंत्र्य-युक्त समाज में कोई परम्परा निरन्तर नहीं बनी रह सकती/सिवाय ऐसे अन्तरालों के जिनमें समाज में एक वैचारिक उन्निद्रता हो। किन्तु यदि परम्परा का अर्थ वर्तमान से ठीक पहले उपलब्ध समाज-मानस और सामाजिक व्यवहार लिया जाए तो बात उतनी अस्पष्ट नहीं रह जाती। परम्परा का अर्थ यही लेना भी चाहिए, इतिहास के किसी विशिष्ट काल और विशिष्ट शास्त्र को परम्परा नहीं कहना चाहिए/जब तक कि वह समाज-मन के वर्तमान में, या उसके सद्यः अतीत में प्रभावी नहीं हो। ‘वेदों में स्त्री का क्या स्थान है, या रामायण और महाभारत अथवा स्मृतियों में क्या स्थान है’ यह बात वहीं तक प्रासंगिक हो सकती है यदि उसका हमारे वर्तमान आचार-व्यवहार से कोई सम्बन्ध हो। यदि उनका हमारे वर्तमान और सद्यः अतीत से कोई सम्बन्ध नहीं है तो वह हमारी परम्परा कैसे हुई? जिन देशों की संस्कृतियाँ समाप्त हो चुकी हैं उनकी पिछली संस्कृतियों को उनकी परम्परा इसी से नहीं कहा जाता। हमारी संस्कृति उच्छिन्न नहीं हुई है इसी से हमारी परम्परा को प्राचीन भी कहा जाता

*लेखक प्रख्यात दार्शनिक एवं ‘उन्मीलन’ के सम्पादक हैं। पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015.

है, किन्तु इसी अर्थ में कि इसमें एक अजस्रता है, वह वेदों या स्मृतियों में अटकी हुई नहीं है। वह जोहड़ नहीं होकर प्रवाह है। यदि इसमें कभी स्थिरता आई तो इसमें सड़ांध ही उत्पन्न हुई। परम्परा के इतिहास की यह सड़ांध भी एक भाग होती है। यदि परम्परा में अवरोध समाप्त हो गया, सड़ांध दूर हो गई, तो यह बात उस जाति के जीवित होने की निदर्शक होती है। अब, परम्परा को इस अर्थ में लेते हुए यदि स्त्री के सन्दर्भ में इसे देखते हैं तो हमारा वर्तमान युग समाज में स्त्री की अत्यन्त गर्हणीय स्थिति के उत्तराधिकार और इस स्थिति को बदलने के प्रयत्नों के साथ आरम्भ होता है। स्वामी दयानन्द ने स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह के लिए आन्दोलन किया, जिसका अर्थ है कि उस समय हमारे समाज में स्त्री को पढ़ना-लिखना सिखाना वर्जित जैसा था। विधवा विवाह तो वर्जित था ही, यहाँ तक कि पति के मर जाने पर स्त्री का उसके साथ चिता पर आत्म-दाह करना तक आदर्श माना जाता था और ऐसी स्त्री को सती : सत्य-व्रता : कहा जाता था। ये उस व्यापक और गहरे रोग के दो लक्षण मात्र हैं जो रोग समाज में उसके स्त्री-पक्ष को लेकर गहरा और सर्वव्यापक जैसा था। स्त्री के प्रति इस दृष्टि के बीज हमारी परम्परा के सुदूर अतीत में नहीं हों, ऐसी बात नहीं है। हमारे यहाँ सीता और सावित्री स्त्री की आदर्श ही नहीं बताई जाती रहीं, इस आदर्श से व्यवहार में च्युति स्त्री के लिए बहुत भयानक भी बना दी गई। स्वयं सीता को अग्नि-परीक्षा में डालने और वनवास देने में इस परम्परा को कोई शर्म नहीं आई। दूसरी ओर राम का एकपत्नी-व्रतित्व केवल अपवाद के रूप में ही नियम रहा, अन्यथा व्यवहार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इतना ही नहीं, स्त्री के साथ पुरुष द्वारा बलात्कार होने पर भी स्त्री अत्याचारित नहीं मानी जाकर दूषित और उच्छिष्ट मानी जाती थी किन्तु पुरुष को कोई दोष नहीं लगता था, दुराचार का दोष भले ही कभी लगता हो, जो साधारण दोष : विहित आचार-संहिता के साधारण अतिक्रमण : से भिन्न नहीं देखा जाता था।

तो यह है नारी विषयक हमारी परम्परा जो बहुत कुछ अभी तक हमारे व्यवहार की अंग है। किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि स्त्री के दलन और उस पर अन्याय-अत्याचार की यह परम्परा केवल भारत तक सीमित नहीं थी, सम्पूर्ण मानव-जाति की, विशेष रूप से सभ्य कहे जानेवाले सभी समाजों की, यही परम्परा रही है। और यह अभिवृत्ति केवल पुरुष की स्त्री के सम्बन्ध में ही नहीं रही है, यह पुरुषों में वर्गों की वर्गों के प्रति भी रही है। मनुष्य का सारा इतिहास जितना सभ्यताओं और संस्कृतियों के विकास का इतिहास रहा है उससे कहीं अधिक यह असंस्कृति और असभ्यता का इतिहास रहा है। वास्तव में मनुष्य हजारों वर्षों की अपनी यात्रा में किसी ऐसे गन्तव्य की ओर नहीं बढ़ा है जिसे वह अपनी प्रगति का प्रमाण कह सके, क्योंकि उसे यही पता नहीं है कि उसका गन्तव्य है क्या? यूरोप यंत्र की कुशलता

में मनुष्य की प्रगति देखता है, इससे वह आज के युग को, और उसमें यूरोप को, सबसे उत्कृष्ट देखता है। अचेतन या अर्ध-चेतन रूप से हम भी ऐसा ही देखते हैं। किन्तु यंत्र की कुशलता मनुष्य की, या सभ्यता की भी, उत्कृष्टता की मानदण्ड हो सकती है, यह स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं है। संभवतः मनुष्य का मूल लक्षण सदसद् विवेक को ही कहना चाहिए। अब, उसका यह विवेक क्रमशः सम्यक् से सम्यक्तर हुआ है यह कहने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं है। पत्थर के उपकरणों से आरम्भ कर वह कम्प्यूटर तक पहुँचा है, यह निश्चय ही अद्भुत विकास-यात्रा है, किन्तु साथ ही वह पत्थर के अस्त्र-शस्त्रों से आरम्भ कर कुशलतम मिसाइलों और ध्वंसकतम बमों तक भी पहुँचा है। यह प्रगति तो है, किन्तु यह किसी मानवीय गन्तव्य की दिशा में है या उसके विपरीत दिशा में, यह कहना कठिन ही जान पड़ता है। हमारी परम्परा में नारी की अस्मिता को इस परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। देखने की बात है कि क्या स्त्री के अधिकारों की चिल्लाहट में तुमुलतम यूरोप में स्त्री पर अत्याचार के आँकड़े आज से हजार वर्ष पहले के यूरोप के ऐसे आँकड़ों से कोई कम हैं? अवश्य कहा जा सकता है कि इन आँकड़ों की बात आज ही मनुष्य के ध्यान में आई है, नारी-अस्मिता का प्रश्न आज ही उठा है, इससे पहले कभी नहीं उठा। यह ठीक है, यह सामाजिक स्तर पर आत्म-बोध की वृद्धि का लक्षण कहा जा सकता है। इससे समाज में स्त्री की स्थिति को लेकर अन्तर भी पड़ा है। किन्तु इस बोध में नारी-अस्मिता का जो अर्थ पूर्वगृहीत है वह कहाँ तक युक्तियुक्त है यह बात भी विचारणीय है, क्योंकि मनुष्य के साथ यह बहुत बड़ी समस्या जुड़ी हुई है कि विधाता ने जबकि इस जीव को उचित-अनुचित के विवेक का सहज बोध दिया है, यह बोध सहज नहीं दिया है कि वह इनकी पहचान भी सही कर सके, वह उचित को ही उचित और अनुचित को ही अनुचित के रूप में पहचाने। बहुत बार, और शायद अधिकांशतः ही, वह अनुचित को उचित और उचित को अनुचित माने चला जाता है।

अब, नारी के साथ पुरुष जो अत्याचार करता रहा है वह उसे उचित मानकर ही करता रहा है। 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति', 'नारी नरक की खान', 'ढोर, गँवार, शूद्र, पशु, नारी' ये सब हमारे पूर्वजों के औचित्य-बोध, विवेक के ही द्योतक हैं। आज नारी की अस्मिता की जो बात की जा रही है वह इसी पृष्ठभूमि पर। ये सब निर्णय पुरुष के नारी के सम्बन्ध में हैं, नारी के अपने सम्बन्ध में नहीं। अवश्य नारी भी तब अपने सम्बन्ध में यही विचार रखती थी, किन्तु यह विचार उसका अपना नहीं था, यह पुरुष का विचार था जिसके अधीन नारी ने अपनी अस्मिता को बँधक बना दिया था। उस समय नारी पुरुष के समान एक व्यक्ति नहीं थी अपने सम्बन्ध में स्वयं निर्णय ले सकने में समर्थ, अपनी नियति स्वयं तय करने में समर्थ। यदि उसे सम्मान भी दिया गया, जैसे अर्धांगिनी कहकर, कुछ यज्ञों में उसका साथ अनिवार्य करके, उसे पूजनीया

बताकर (यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः) तो वहाँ भी यह पुरुष का ही निर्णय रहा, उसी के द्वारा नारी को दिया गया स्थान। वह स्वयं नारी के द्वारा अपने को दिया गया सम्मान या स्थान नहीं था।

किन्तु यहाँ विचारणीय है कि समाज में यों किसी को भी कोई स्थान स्वयं अपने द्वारा दिया गया कब होता है? सब सांस्कृतिक संस्कार-परम्परा के अधीन ही सोचते-समझते और बरतते हैं। जातियों का जन्म से निर्धारण इसी प्रकार हुआ। ब्राह्मणों के घर ब्राह्मण और शूद्रों के घर शूद्र ही उत्पन्न नहीं होते थे, जैनों के जैन, बौद्धों के बौद्ध, वैष्णवों के वैष्णव, नैयायिकों के नैयायिक भी उत्पन्न होते थे। आज भी बहुत कुछ ऐसा ही है। इसी से ब्राह्मण शूद्रों के प्रति ही अन्याय नहीं करते थे, अपने प्रति भी अन्याय करते थे। पौरोहित्य-कर्म को ही अपना साधन और साध्य बना लेना, अध्यापन के लिए कोई धन नहीं लेना आदि बहुत सी ऐसी बातें हैं जो ब्राह्मणों पर स्वयं ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई धारणाओं ने लाद दी थीं, जिनके कारण वे भी कम कष्ट में नहीं रहे और अभी तक रह रहे हैं। शूद्रों या दासों की सभ्य समाजों में जो स्थिति रही है वह सबको विदित ही है और ये केवल स्त्रियाँ ही नहीं होते थे, पुरुष भी होते थे। उनके प्रति कोई अन्याय नहीं करता था, क्योंकि उन्हें उसी प्रकार के जीवन के योग्य माना जाता था। प्लेटो, अरस्तू और शंकर जैसे उत्कृष्टतम चिन्तकों ने दासों और शूद्रों को इसी प्रकार देखा। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि कोई शूद्रों के प्रति अन्याय करता था, जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि हम पालतू पशुओं के प्रति अन्याय करते हैं। वह बोध की, या कहेँ बोध-हीनता की, स्थिति थी। इस प्रकार यदि 'अस्मिता' का अर्थ 'आत्म-प्रतिष्ठा' को लें, अपनी जागृत चेतना में प्रतिष्ठा, स्वयं विचार कर सकने की योग्यता और उसके अनुसार जीवन-यापन करने की सामर्थ्य, तो कहा जा सकता है कि समाज में लगभग हम सभी अनात्म-प्रतिष्ठ, अस्मिता-विहीन ही अधिकांशतः होते हैं अन्धेन नीयमाना यथांधाः। यही कारण है कि भगवान राम जैसे पुरुष भी सीता की शुद्धता की परीक्षा लेने का अनौचित्य और उसके सम्बन्ध में लोकापवाद की क्रूर बुद्धिहीनता नहीं देख पाए। इतना ही नहीं, स्त्रियों के प्रति ये बर्ताव केवल पुरुष ही नहीं करते थे, स्वयं स्त्रियाँ भी करती थीं, क्योंकि वे इसमें कोई अन्याय नहीं देखती थीं।

इस प्रकार स्त्री के प्रति अन्यायपूर्ण स्थिति का उत्तरदायी सामान्य रूप से सामाजिक बोध-हीनता को ही कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ कुछ सीमाएँ लगाना आवश्यक है गृहिणी के रूप में स्त्री मात्र सदैव प्रताड़ित रहती है, ऐसी बात नहीं है, बहुत सी स्त्रियाँ घर में प्रथम होती हैं कभी अपने रूप के कारण और कभी अपने व्यक्तित्व की तेजस्विता के कारण और कभी अपने परिवार के दूसरे सदस्यों, विशेषतः अपने बच्चों के सहयोग से। रामायण में कैकेयी दशरथ पर हावी है, तुलसीदास जिस पत्नी के लिए घोर आँधी-वर्षा में भी नदी पार करके गए वह उनकी दासी और उनके

ताड़न की अधिकारिणी नहीं थी, महाभारत में युधिष्ठिर ने केवल द्रौपदी को ही द्यूत में दौंव पर नहीं लगाया था, सब भाइयों को पहले लगाया था और द्रष्टव्य है कि महाभारत में द्रौपदी केन्द्रीय चरित्र है। समाज में स्त्री के स्थान पर विचार करते हुए इन उदाहरणों को ध्यान में नहीं रखना भ्रामक होगा। निश्चय ही स्त्री के विषय में दृष्टि-दोष तो रहे ही हैं, जिनके कारण वह एक वर्ग के रूप में ही पुरुष के भयानक अन्याय की भाजन नहीं है, किन्तु यह समाज में व्यापक अन्याय का एक अंग ही है, जैसे शूद्रों के उदाहरण में हमने पीछे देखा। इसी प्रकार युद्धों में विजेता सेनाएँ आती थीं तो स्त्रियों के साथ बलात्कार करती थीं किन्तु पुरुषों को भी छोड़ती नहीं थीं, वे उन्हें दास बनाकर ले जाती थीं। पुरुष के स्त्री के प्रति व्यवहार को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। इसमें 'पुरुष' द्वारा 'स्त्री' पर अन्याय की बात नहीं है, यह एक सर्वग्रासी आसुरता की बात है। आज भी वही परिस्थिति हैमनुष्य की आसुरता की।

समाज में, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित हैं, स्त्री के पुरुष से हीन होने की एक सामान्य धारणा थी और यह प्रायः सार्वदेशिक और सार्वकालिक थी। इसमें भारत की कोई विशिष्टता नहीं थी। इसका मूल संभवतः पुरुष के स्त्री से अधिक बलिष्ठ होने में था। कई आदिम समाजों में स्त्रियाँ ही घर के और बाहर के सब कार्य करती हैं, पुरुष बैठे केवल हुक्का पीते और बात करते हैं। किन्तु उनमें भी प्रभुता पुरुष की ही होती है। वैयक्तिक स्तर पर स्थिति इससे भिन्न हो सकती है, वैयक्तिक रूप से बहुत से भारतीय घरों में भी स्त्री की ही बात चलती है, कुछ घरों में पति पत्नियों से दबते हैं, किन्तु सामाजिक रूप से स्थिति यही है कि पुरुष ही प्रमुख माना जाता है। इसी से स्त्री का पुरुष से दबना सहज माना जाता है, स्त्री से दबनेवाले पुरुष को 'औरत का गुलाम' कहकर उसकी हीनता बताई जाती है। इसमें स्त्री के प्रति बहुत-सा अन्याय भी हो गया, जिसका उल्लेख हमने पीछे किया है। स्त्री से शुचिता की अतिरिक्त अपेक्षा, उसके आधार पर उसके व्यवहार विषयक नियम जो मनु के 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' विधान में परिणत हुए, ये सब अविश्वसनीय रूप से मूर्खतापूर्ण धारणाएँ हैं, किन्तु ये लगभग सभी समाजों में पाई जाती हैं आदिम समाजों सहित। यह सब अनात्मचेतन, अयुक्तियुक्त सामाजिक व्यवहार है दूसरे अधिकांश सामाजिक व्यवहार की ही तरह।

इसमें आज कुछ सुधार हुआ है। आज किसी को शूद्र मानना और दास बनाना अविहित हैकानूनी अपराध है। बहुत दूर तक व्यवहार में ये दोनों बातें आज भी उसी तरह हैं, यह एक दूसरी बात है। यही बात स्त्री के सम्बन्ध में भी है। आज स्त्री के साथ बलात्कार होने पर स्त्री उच्छिष्ट और दूषित नहीं मानी जाती, अत्याचारित मानी जाती है, यह बात आज सामाजिक रूप से कम-से-कम विचारों में सभी सभ्य समाजों में स्वीकृत है। आज मनुष्य के अधिकारों की, जिसमें स्त्री भी पुरुष से

अभिन्नतः सम्मिलित है, बात होने लगी है और यह प्रायः सर्वस्वीकृत है और इन अधिकारों का निर्णय युक्ति के आधार पर होता है, जिस युक्ति की मूल प्रतिज्ञा मनुष्य मात्र की समानता है।

यह सब ठीक है। इसे कम-से-कम एक दृष्टि से, या एक पक्ष में, सामाजिक प्रगति का द्योतक भी कहा जा सकता है, यद्यपि सामान्य रूप से यह कहना कि सामाजिक रूप में मनुष्य आज प्राचीन युगों से उत्कृष्टतर सोपान पर है, आज के युग की अहम्मन्यता ही होगी। किन्तु यहाँ प्रसंग स्त्री के स्वातंत्र्य, या कहें उसकी अस्मिता का है। किन्तु यह विचारणीय है कि 'स्त्री की अस्मिता' का क्या अर्थ है और इसमें आज के युग की दृष्टि कहाँ तक युक्तिसंगत है?

इस प्रसंग में कुछ बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं जिन्हें दृष्टि-हीनता कहा जा सकता है और जिससे स्त्री के प्रति भयानक अन्याय होता रहा है। इसमें सर्वप्रथम स्त्री की शुचिता की अवधारणा रखी जा सकती है, जिसके अधीन किसी स्त्री के स्वैर व्यवहार को जघन्यतम अपराध माना जाता था। संस्कृत में एक प्रसिद्ध पुरानी उक्ति है 'योगादपि दुष्करं पर-दार निशेवनम्।' किन्तु पुरुष का यह परम योग स्त्री के स्वैरिणी हुए बिना सिद्ध नहीं हो सकता, यह इसमें भुला दिया गया है। इसी से इसका दूसरा पक्ष 'योगादपि दुष्करं पर-पुरुष निशेवनम्' कहीं सुनने में नहीं आता, क्योंकि स्त्री का पर पुरुष-निशेवन को काम्य मानना अकल्पनीय रूप से जघन्य माना जाता था। इस एकपक्षीयता के कारण यहाँ विधवा-विवाह वर्जित रहा और असंख्य बाल विधवाएँ भयानकतम यातनाएँ भोगती रहीं, जिनमें एक यातना स्वैरी पुरुषों की उपर्युक्त योग-साधना की उपकरण होना भी था। थोड़ा विचार करने पर यह बात अकल्पनीय लगती है कि किस प्रकार यह पूरा समाज, स्त्रियों के सहित, स्त्री की इस भयानकतम यातना के प्रति अंधा रहा, और व्यवहार में बहुत कुछ आज भी है। इस दृष्टिहीनता की पराकाष्ठा बलात्कार होने पर स्त्री को उच्छिष्ट मानने में दिखाई देती है। 'बलात्कार' का अर्थ ही है पुरुष द्वारा स्त्री के साथ बलात् मैथुन, जिसमें स्त्री का कोई योगदान नहीं है, उस पर बल-प्रयोग हुआ है। किन्तु अब भी बलात्कारी उच्छिष्ट नहीं होता, स्त्री ही उच्छिष्ट होती है। इसी प्रकार, पर-दार के रूप में निशेवन के लिए स्त्री उच्छिष्ट नहीं होती किन्तु अपनी दार के रूप में वह उच्छिष्ट हो जाती है। इस दृष्टि-हीनता ने स्त्री को विधवा ही नहीं बनाया, वेश्या भी बनाया। दूसरे प्रकार का अंधापन 'नारी को नरक की खान' कहने में दिखाई देता है। वह 'नरक की खान' इसलिए है क्योंकि वह पुरुष में काम-वासना की उद्दीपक है। इसमें एक ओर केवल पुरुष को ही कर्ता के रूप में देखा गया है और स्त्री को कर्म-केविषय के रूप में देखा गया है और दूसरी ओर इस कामुकता के दोष के लिए कामी को दोष नहीं देकर इस कामुकता की भाजन को दोष दिया गया है। मुसलमानों ने तो इसमें अत्याचार को पराकाष्ठा पर ही पहुँचा दिया स्त्री को बुरके में बन्द करके। और आश्चर्य की बात यह है कि उन्हें इसकी

मूर्खता और क्रूरता आज भी दिखाई नहीं दे रही है। ये सब अंधेपन के एक प्रकार के उदाहरण हैं जो भारतीय समाज में पर्याप्त व्यापक और गहरा दिखाई देता है। किन्तु इस अन्धेपन से मुक्ति का अर्थ जो आज लिया जा रहा है वह एक दूसरा अन्धापन नहीं है, उसने स्त्री को वास्तव में मुक्ति दी है या मुक्ति की दिशा प्रशस्त की है, यह एकदम असन्दिग्ध रूप से कहना कठिन होगा। पहले काम को नरक के द्वार के रूप में देखकर नारी को उसकी ओर ले जानेवाली के रूप में गृहित किया जाता था और पुरुष से दूर रखने के लिए ढँका जाता था, उसका असूर्यपश्या होना उसके गौरव का प्रतीक था, और आज काम को स्वर्ग का द्वार मानकर स्त्री को अधिक-से-अधिक उधाड़ा जाता है और इसे स्त्री के स्वातंत्र्य का नाम दिया जाता है, जबकि इसमें नारी की अस्मिता उतनी ही पुरुष के अधीन है जितनी पहले थी। केवल इसमें पुरुष की दृष्टि-भेद ही निर्णायक है, स्त्री की कोई दृष्टि या कर्तृत्व इसमें नहीं है।

किन्तु एक दूसरा पक्ष है जिसमें आज स्त्री की स्वतंत्रता, उसकी अस्मिता, दिखाई देती है। वह है स्त्री को घर से बाहर के सामाजिक जीवन में भाग लेने का समान अधिकार। यों यह द्रष्टव्य है कि पहले भी स्त्री घर तक सीमित केवल नागर समाजों में ही थी, ग्राम-समाजों में वह खेत में पुरुष के साथ कार्य में हाथ बटाती ही थी। किन्तु वहाँ भी वह पुरुष से गौण ही थी और वैसा होना उस कार्य की प्रकृति के कारण अनिवार्य था। इस प्रकार स्त्री की घर के भीतर तक सीमितता केवल नागर समाजों में ही थी, ग्राम-समाजों या आदिम समाजों में नहीं। आज अन्तर यह आया है कि आज नागर समाजों में भी स्त्री घर से बाहर के कार्यों में सहभाग ले रही है और दूसरा आधारभूत अन्तर यह है कि इसमें वह पुरुष की गौण नहीं है। किन्तु आज के नागर-जीवन में भी यह भेद तो है ही कि वह बहुत से कार्यों में पुरुष के तुल्य नहीं हो सकती जैसे सेना, ट्रक और बस-ड्राइवरी या रेल-ड्राइवरी आदि में। किन्तु उसकी यह न्यूनता उसकी कोई मानवीय न्यूनता नहीं है, जैसे मनुष्य के शेर के जैसे नख-दन्त नहीं होने या बलीवर्द के समान खुर और सींग नहीं होने में उसकी कोई न्यूनता नहीं है। बल्कि स्त्री पर पुरुष की यह 'अधिकता' उसकी आसुरता की हेतु ही बनी है, जिसने एक ओर उसे स्त्री के प्रति अन्यायी और अत्याचारी बनाया और दूसरी ओर स्त्री को उसकी योग्यताओं के चरितार्थन से वंचित रखा। किन्तु इस अमानवीय न्यूनता के कारण वह पिछले युगों के समाजों में मानव के रूप में न्यून ही मानी जाती रही और उसे उसके मानवीय गुणों के विकास का अवसर नहीं दिया जाता रहा। आज इस दृष्टि में सुधार हुआ है, व्यवहार में चाहे उतना सुधार नहीं भी हुआ हो। किन्तु दृष्टि में सुधार व्यवहार में भी क्रमशः सुधार में तो अनूदित होगा ही।

किन्तु यह दृष्टि सम्यक् दृष्टि है या नहीं, यह विचारणीय है। मुझे लगता है कि इस दृष्टि में कुछ बड़े मूलगामी दोष हैं। पहला दोष तो यही है कि यह माना

जाने लगा है, विशेषतः स्त्रियों के द्वारा, कि वे पुरुष के बराबर हैं, और 'बराबर' का अर्थ 'समान' उनके जैसी, लिया जा रहा है। अब, यदि स्त्रियाँ पुरुषों के समान हैं तो उनमें पुरुष के समान ही शौर्य भी होना चाहिए, आसुरता भी होनी चाहिए और निर्लज्जता भी होनी चाहिए! सो, यह बराबरी आज वह दिखाने को उद्यत है। इस निर्लज्जता को अंग्रेजी भाषा के शब्द 'बोल्डनेस' से अभिहित किया जाता है। (इस शब्द का हिन्दी में कोई पर्यायवाची शब्द मुझे मालूम नहीं है।) अभी बचाव की बात यह है कि इस प्रकार के व्यवहार के लिए पुरुषों को बोल्ड नहीं कहा जाता, उन्हें अभी इस बहादुरी के लिए निर्लज्ज ही कहा जाता है, जिसका अर्थ हुआ कि इसमें स्त्रियाँ स्वयं भी अपने को पुरुषों के बराबर नहीं मानतीं, पुरुष तो खैर उन्हें नहीं ही मानते। किन्तु इसके लिए स्त्रियाँ पुरुषों पर यह आरोप लगाती हैं कि वे स्त्री को देवी मानने और इस प्रकार उसकी मानवीय दुर्बलताओं को अक्षम्य मानने की पुरानी मानसिकता से मुक्त नहीं हैं।

यह बात बहुत जटिल है, इस पर विस्तार से विचार करना अपेक्षित है जो इस लेख में नहीं किया जा सकता। किन्तु तब भी हम यहाँ संक्षेप में कुछ कहेंगे। प्रथम तो यह 'बोल्डनेस' दो प्रकार की है, जो अमृता प्रीतम और तसलीमा नसरीन की आत्मकथाओं में दिखाई देती है, और दूसरी, जो जिस्म जैसी पिक्चरों में विपाशा वसु ने दिखाई है। इन दो में अन्तर है। इन आत्मकथाओं में अपने कृत्यों का विवरण है, जिनको बताने में लोग प्रायः ही झिझकते और घबराते हैं, स्त्रियाँ तो विशेष रूप से घबराती हैं। इन आत्मकथाओं में यह वर्णन महिमा-मंडन के रूप में भले ही नहीं हो किन्तु पश्चात्ताप और आत्मालोचन के रूप में भी नहीं है। उसमें वैसी ही बोल्डनेस है जैसी वैसा लिखने में किसी पुरुष के लिए भी होती। यहाँ यह बात विचारणीय हो सकती है कि जब तक वह विवरण महात्मा गाँधी के 'सत्य के प्रयोगों' के रूप में नहीं है तब तक उसके देने का औचित्य क्या? वे ऐसी व्यक्तिगत वस्तुस्थितियाँ हैं जिन्हें सार्वजनिक करना उसी प्रकार का है जैसे बाजार में नंगा खड़ा होना। अमरीका में स्त्रियाँ कभी-कभी यह भी करती हैं, किन्तु इसका औचित्य क्या? अन्यथा वे स्थितियाँ मूल्यांकन की विषय हैं। तब प्रश्न है कि आपने उनका मूल्यांकन कैसा किया है और उस मूल्यांकन का औचित्य क्या है? (मैं इन आत्मकथाओं के सम्बन्ध में अपना मत इसलिए नहीं दे रहा हूँ क्योंकि मैंने ये पढ़ी नहीं हैं, केवल इनके सम्बन्ध में सुना ही है।) किन्तु जिस्म जैसी पिक्चरों में काम-केलियों द्वारा कामुकता का कामोद्दीपन के लिए प्रदर्शन है। यह 'बोल्डनेस' पुरुष के लिए भी गर्हणीय ही है, स्त्री के लिए और भी गर्हणीय है। हम कहना चाहेंगे। इस कथन के पीछे देवीकरण कर उसकी मानवीय दुर्बलताओं को अक्षम्य बनाने की दृष्टि नहीं है बल्कि स्त्री के प्रति पौरुषिक सौन्दर्य-दृष्टि का स्वीकार है। यह सौन्दर्य प्रथमतः रूप का ही होता है, किन्तु रूप का सौन्दर्य हृदय के सौन्दर्य का सहज संकेत भी बनता है बहुत कुछ उसी प्रकार जिस

प्रकार विद्वत्ता, कलावन्तता आदि सहज रूप से चारित्रिक उत्कृष्टता के लिए संकेत के रूप में देखे जाते हैं। यदि पिता से माँ को अधिक स्नेहमयी, भाई से भाई की तुलना में बहन को अधिक स्नेह की पात्र और भाई के प्रति अधिक स्नेहमयी देखा जाता है तो यह कोई पुरुष का स्त्री पर अन्याय नहीं है, न उसमें दुर्बलताओं का अस्वीकार है, बल्कि यह सहज धारणा है कि मानवीय गुणों में स्त्री पुरुष से श्रेष्ठ होती है और जो स्त्री ऐसी नहीं होती वह प्रकृति का विचलन जैसा है। ठीक बात तो यह है कि स्वस्थ मानसिकता में कोई स्त्री की सहज मानवीय दुर्बलताओं के प्रति भी अधिक सहानुभूतिशील ही होगा। स्त्री की मानवीय दुर्बलताओं के प्रति पुरुष जो अधिक असहिष्णु रहा है वह केवल सामाजिक दृष्टि-दोष ही है, जो स्वस्थ मानसिकता के अभाव का ही द्योतक है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि स्त्री को पुरुष की अपेक्षा हृदय के मानवीय गुणों में श्रेष्ठतर मानने और उस दृष्टि के अनुसार उसे देखने में पुरुष का कोई अन्याय है। अभी कुछ दिन पहले दूरदर्शन पर समाचार था कि दो लड़कियों ने एक पेट्रोल पम्प पर कार्य ग्रहण किया है। इस पर प्रतिक्रिया देते हुए पुरुषों का कहना था कि 'इससे अब पेट्रोल देने में धोखाधड़ी कम होगी क्योंकि स्त्रियाँ धोखाधड़ी में पुरुषों के बराबर नहीं होती।' यह धारणा गलत हो सकती है, या स्त्री में इस दृष्टि से पुरुष से श्रेष्ठता प्राकृतिक नहीं होकर सांस्कृतिक और इस प्रकार आरोप मात्र भी हो सकती है, किन्तु न तो इसे गलत सिद्ध करने में स्त्री की अस्मिता की सिद्धि में कोई वृद्धि होती है और न ऐसा मानने में पुरुष का स्त्री के प्रति कोई अन्याय या षड्यंत्र है। स्त्री-पुरुष में ऐसा भेद केवल सांस्कृतिक आरोप है या इसका कोई प्राकृतिक आधार भी है, यह निर्णय बहुत सहज नहीं है, क्योंकि किसी संस्कृति में इनमें अभेद भी सांस्कृतिक आरोप और प्राकृतिकता का विपर्यास हो सकता है।

ऊपर हमने कहा कि पुरुष स्त्री में रूप-सौन्दर्य की अपेक्षा करता है जो सहज रूप से सुशीलता, सरलता और मृदुता आदि गुणों का व्यंजक देखा जाता है। ये गुण रूप-सौन्दर्य में अतिशयता ही नहीं लेते, उसका अभाव होने पर उसका भाव भी लाते हैं और इन गुणों का अभाव रूप-सौन्दर्य को धुँधला, और बहुत बार विकर्षक भी बनाता है। स्त्री के प्रति पुरुष की इस दृष्टि में पुरुष का उसके प्रति कोई अन्याय है और स्त्री को यह सिद्ध करने में कोई अस्मिता का लाभ मिल सकता है कि वह पुरुष से इन गुणों में किसी प्रकार भिन्न नहीं है, ऐसा मुझे युक्तियुक्त नहीं लगता। अधिकांश स्त्रियों में रूप-सौन्दर्य नहीं होता और रूप में सुन्दर स्त्रियों में बहुत-सी इन गुणों से युक्त नहीं होतीं यह सही है, किन्तु ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अधिकांश पुरुषों में धीरोदात्त नायक के गुण नहीं होते, आसुरी वृत्तियाँ ही अधिक होती हैं। किन्तु उनकी परस्पर के प्रति इन अपेक्षाओं में परस्पर के प्रति अन्याय देखने में कोई औचित्य है, ऐसा मुझे सही प्रतीत नहीं होता। यह दुर्भाग्य की बात है कि आज का

युग इन दृष्टियों के विपर्यास में ही गौरव देखता है। प्रगति और विकास के हमारे आदर्श यूरोप-अमरीका आज इन गुणों में कोई उत्कृष्टता नहीं देखते। कुछ ही वर्ष पहले की बात है कि इंग्लैंड के एक प्रधान मंत्री, शायद जोन मेजर, के सम्बन्ध में यह पता चलने पर कि उसके किसी या कुछ स्त्रियों से अवैध यौन सम्बन्ध हैं, वहाँ की स्त्रियों में उसकी लोकप्रियता बढ़ गई थी। (यहाँ मैं यह स्मृति से लिख रहा हूँ किन्तु किसी अन्य लेख में मैंने यह एक समाचार पत्र से उद्धृत किया था।) इसी प्रकार कल (2 सितम्बर, 2004) के **टाइम्स ऑफ इंडिया** में समाचार प्रकाशित हुआ है कि ब्रिटेन नाम की **मादक** गायिका की चूस कर डाली हुई चूड़ंगम तीस लाख डालर में नीलाम हुई। इन दो समाचारों में वहाँ की स्त्रियों की अस्मिता विषयक दृष्टि और पुरुषों के पौरुष विषयक उनकी दृष्टि पर जो टिप्पणी निगूढ़ है मुझे वह केवल भयावह ही दिखाई देती है। इससे पिछले युगों की अस्मिता-विहीनता ही अच्छी, क्योंकि इस नई अस्मिता से न स्त्रियों पर बलात्कारों में कोई कमी आई है और न उन पर दूसरे अत्याचार ही घटे हैं, और न स्त्री अन्यथा ही अपना कोई प्रतिष्ठापक आधार प्राप्त कर पाई है। तो भी यह स्वीकार करना होगा कि आज स्त्री की अस्मिता की बात उठना सामाजिक चेतना में आधारभूत परिवर्तन का लक्षण है और इस ओर एक प्रगति का द्योतक है, वह प्रगति चाहे किसी युक्त दिशा-बोध से रहित गति मात्र ही क्यों न हो।

उन्नीसवीं सदी का नव-जागरण, सामाजिक चेतना और राष्ट्रीयता : एक पुनर्दृष्टि¹

सत्यमित्र दुबे*

1

आरम्भिक पश्चिमीकरण के प्रभाव से भारत के तटीय प्रदेशों बम्बई, मद्रास और विशेषकर कलकत्ता के कुछ अभिजनों द्वारा जिन बौद्धिक-सामाजिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, अनेक समाजशास्त्रियों (योगेन्द्र सिंह : 1988)² ने उसे समाज सुधार कहा है। अनेक लोगों द्वारा (व्यास : 1957, भट्टाचारजी : 1976)³ उसे 'नव-जागरण' की संज्ञा दी गई है। साम्राज्य, व्यापार और ईसाई मजहब तीनों के मिलेजुले प्रभाव के अन्तर्गत बम्बई, मद्रास एवं कलकत्ता पश्चिम के सम्पर्क में आए। अंग्रेजों ने सत्ताकेन्द्र के रूप में कलकत्ता को प्राथमिकता दी। अठारहवीं सदी के अन्तिम दशक तक कलकत्ता संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, बांग्ला, हिन्दुस्तानी भाषा के मिलन स्थल; हिन्दू, इस्लाम, ईसाई मतावलम्बियों के पारस्परिक विवाद-विमर्श का केन्द्र बन चुका था। पश्चिमी विचारों का प्रभाव उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में राममोहन रॉय, देवेन्द्र नाथ ठाकुर जैसे अभिजनों सहित थोड़ी बहुत अंग्रेजी जाननेवाले किरानियों, गुमाशतों, बिचौलियों तक सीमित था। उनकी तादाद एक अनुमान के अनुसार एक हजार से ज्यादा नहीं थी (मिश्र : 1960)⁴ दूसरी ओर ईस्ट इंडिया कम्पनी के दिन प्रतिदिन के दमन के नीचे प्रताड़ित भारतीय जन रहता था। उस समय जॉन बुल जैसे उपनिवेशवादी और सेरामपुर के डॉ. मार्शमैन जैसे कट्टर ईसाई पादरी भी थे जो हिन्दू धर्म पर प्रहार करते रहते थे।

उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में कलकत्ता में सक्रिय भारतीयों के तीन गुट थे। पहले गुट में रूढ़िवादी लोग थे जो सामाजिक सुधारों और राममोहन रॉय का विरोध करते थे। इन लोगों ने 'धर्मसभा' का गठन किया था। राममोहन रॉय के नेतृत्व में उपनिषदों के दर्शन और ईसाइयत से प्रभावित, सती प्रथा के विरोध, विधवा विवाह

* प्रो. (डॉ.) सत्यमित्र दुबे देश के जाने-माने समाजशास्त्री एवं सुपरिचित स्तम्भ-लेखक हैं। हिन्दी अकादमी, दिल्ली ने इस वर्ष इन्हें 'साहित्यकार सम्मान' से विभूषित किया है।

का समर्थन जैसे समाज सुधार के सवालों को उठानेवाला दूसरा गुट था।⁵ भारतीय परम्परा में पूर्ण आस्था के साथ, उसकी पुनर्व्याख्या पर जोर देनेवाला ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के नेतृत्व में संस्कृत कॉलेज से जुड़े उन विद्वत्जनों का समूह था जो रूढ़ि-विरोध और समाज-सुधार पर जोर देता था।

इस परिवेश को दृष्टिगत रखते हुए यूरोपीय सन्दर्भ में, रेनेसाँ, नव-जागरण की अवधारणा के अर्थ और पृष्ठभूमि पर विचार आवश्यक है। इसके साथ ही भारत में नव-जागरण के विभिन्न कालखण्डों का भी विवेचन जरूरी है। यह प्रश्न भी समीचीन है कि क्या सचमुच उन्नीसवीं सदी के पूर्व और ब्रिटिश प्रभावों से अछूता भारत अंधकार में डूबा था? महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि उस काल में समाज-सुधार, सामाजिक चेतना और राष्ट्रीयता में क्या सम्बन्ध है?

2

i) यूरोपीय इतिहास में 'रेनेसाँ' एक युगांतरकारी सांस्कृतिक-बौद्धिक परिघटना है। उसके नव-जागरण, पुनर्जागरण, पुनर्जन्म, पुनरुत्थान, पुनर्गठन आदि कई अर्थ हैं। उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में फ्रेंच लेखकों ने चौदहवीं से लेकर अठारहवीं सदी के मध्य कला, स्थापत्य, भवन निर्माण, भाषा, साहित्य, सौन्दर्यशास्त्र, धर्म, राजनीति आदि के क्षेत्र में चलनेवाली प्रक्रिया को 'पुनरुत्थान' अथवा 'पुनर्जागरण' की संज्ञा दी। कुछ लोग केवल 15वीं-16वीं सदी में उभरी प्रवृत्तियों को ही रेनेसाँ के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। यूरोप के इतिहास में रोमन साम्राज्य के बिखराव के साथ पाँचवीं सदी से लेकर नवीं सदी तक राजनीतिक अव्यवस्था, बर्बर कबीलों के आक्रमण, व्यापारिक गिरावट, बौद्धिक शून्यता, नैतिक पतनशीलता के कारण 'अंधकार युग' माना जाता है। समाजशास्त्रियों के अनुसार ग्यारहवीं सदी के बाद, नगरों, विश्वविद्यालयों, गिल्ड प्रणाली तथा व्यापार के पुनरोद्भव के साथ यूरोप में एक नई लहर आई। रेनेसाँ की समझ के लिए यूरोपीय इतिहास के ईसा पूर्व के *अधार्मिक/पैगन*, ग्रीक-रोमन विचार, रोमन साम्राज्य-ईसाइयत; अंधकार युग तथा पुनर्जन्म-पुनर्जागरण के कालखण्डों के पारस्परिक सम्बन्धों का बोध आवश्यक है।

यूरोप में जिन सांस्कृतिक-बौद्धिक प्रवृत्तियों और उनसे प्रभावित विचारों के उभार को 'रेनेसाँ' की संज्ञा दी गई है, उनकी दो परस्पर विरोधी पार्श्वभूमि हैं। पहला मिला-जुला प्रभाव तो ईसा पूर्व के ग्रीक-रोमन विचारों, देवी-देवताओं की अवधारणाओं और अधार्मिक मान्यताओं का है। इटली के शिल्पी-कलाकार इससे सर्वाधिक उत्प्रेरित हुए। इस धारा का मुख्य केन्द्र फ्लोरेंस था। यह एक प्रकार से ईसा पूर्व की अपनी विरासत के पुनःस्थापन, रिस्टोरेशन की चेष्टा थी। रेनेसाँ के साथ ग्रीक विचारों की

वास्तविक आत्मा को समझने की चेष्टा की गई। प्लेटो और अरस्तू के विचारों की प्रेरणा रेनेसाँ के मूल में है। प्रेरणा का दूसरा स्रोत ईसाइयत की *वापसी-पुनरागमन*, *रेस्टिच्यूशन-रिडंशन* की आस्था में अन्तर्निहित है। ये दोनों धाराएँ एक-दूसरे में समाहित होकर समानार्थी-सी प्रतीत होती हैं।

रेनेसाँ की प्रक्रिया और विचारों के निरूपण में साहित्यकारों, इतिहासविदों और राज पुरुषों की महती भूमिका है। सामान्यतया रेनेसाँ काल में मुख्य बल मानविकी तथा सामाजिक-राजनीतिक सवालों पर है। जहाँ तक मानविकी का प्रश्न है इटली में वास्तु, शिल्प, कला, फ्रांस में भाषा, राजनीतिक विचार, जर्मनी में रोमन चर्च, कैथोलिक सम्प्रदाय का विरोध, जर्मन भाषा, जर्मन राष्ट्रवाद पर जोर, स्पेन तथा इंग्लैण्ड में भाषा और गद्य के विकास पर बल दिया गया। इस सांस्कृतिक आंदोलन के फलस्वरूप यूरोपीय भाषाएँ लैटिन के बोझ से मुक्त हुईं। अलग-अलग देशों में बौद्धिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों की विभिन्नता के बाद भी अरस्तू का चिन्तन, कैथोलिक सम्प्रदाय और रोमन चर्च के दबाव के मुक्ति, चर्च और राजतन्त्र दोनों के वर्चस्व का वैचारिक प्रतिरोध, इस काल की सामान्य विचारधाराएँ हैं।

इस काल के चिन्तन में शासन प्रणाली, राजनय, विचारधारा और राजक्रान्ति जैसे सवालों पर गहराई से विचार हुआ। (हर्नशा : 1925)⁶ तेरहवीं सदी में राज्य/चर्च, दैवी सत्ता/राजसत्ता की सर्वोपरिता को लेकर काफी विमर्श हुआ। पीयर दुबाय (1255-1321) ने फ्रांस के राज्य के समर्थन में पोप की सत्ता का विरोध किया। उसने फ्रांस की सरकार के पुनर्गठन, कानून, शिक्षा में सुधार, चर्च की सम्पत्ति को जब्त करने और राष्ट्रों के बीच के झगड़ों के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मध्यस्थता की व्यवस्था जैसे कार्यक्रमों की रूपरेखा प्रस्तुत की। पन्द्रहवीं सदी में अनेक लेखकों ने राजतन्त्र से अलग हटकर जनसमर्थित सार्वभौमिकता पर जोर दिया। *मैकियावली (1469-1527)* ने राजनीति को नैतिकता से अलग किया। उसने माना कि स्वार्थ का पोषण मानव स्वभाव है। उसके राजनीतिक सिद्धान्त में धर्मशास्त्र के लिए स्थान नहीं है। इस काल में समाज और राज्य की दैवी उत्पत्ति के स्थान पर सामाजिक संविदा का लोकतान्त्रिक सिद्धान्त (*रूसो, 1712-78*) प्रतिपादित हुआ; इतिहास के दर्शन पर गम्भीर विमर्श हुआ और प्रगति की अवधारणा पर जोर दिया गया। जिन बर्बर गिरोहों के आक्रमण से रोमन साम्राज्य धराशायी हो गया और यूरोप पाँच सौ वर्षों के लिए अंधकार युग में चला गया, उस तरह के हमलों को भारत अपने इतिहास में बार-बार झेलता रहा। सिकंदर, हूणों, शकों, मुसलमानों (तुर्क, अफगान, ईरानी), के हमलों, व्यापार के लिए आए यूरोपियनों (पुर्तगाली, फ्रांसीसी, अंग्रेज) द्वारा युद्ध। छल, प्रपंच द्वारा देश पर कब्जा कर लेने से राजनीतिक सत्ता में तो उलटफेर होता रहा परन्तु यहाँ की सामुदायिक संस्थाएँ और सांस्कृतिक परम्पराएँ इतनी मजबूत थीं कि सामाजिक

स्थिरता के साथ बौद्धिक परम्परा की धारा किसी-न-किसी रूप में प्रवाहित होती रही। ख्यातिलब्ध समाजशास्त्री *राधाकमल मुखर्जी*⁷ के शब्दों में भारत के लम्बे सांस्कृतिक इतिहास में बार-बार नव-जागरण और उसके साथ सामाजिक सुधार के आन्दोलनों के उभार परिलक्षित होते हैं।

3

मत्तर-वैदिक काल में उपनिषदों के चिन्तन, जैन तीर्थंकरों की शिक्षाओं, गौतम बुद्ध के उपदेशों के द्वारा यज्ञ, बलि, हिंसा, कर्मकाण्ड, सामाजिक भेदभाव के प्रतिरोध में जिस नव-जागरण का संचार हुआ (800-200 वर्ष ई.पू.) उसने मानवता को तीन बड़े धर्म और सूक्ष्मतरम दार्शनिक चिन्तन की दर्जनों शाखाएँ प्रदान कीं। विश्व के प्रथम विश्वविद्यालय तक्षशिला की इसी कालखण्ड में स्थापना हुई। विश्व के प्रथम भाषाविद पाणिनि के व्याकरण की इसी काल में रचना हुई। सिकंदर के हमले के बाद चाणक्य के निर्देशन में चन्द्रगुप्त द्वारा मौर्य राजवंश (321 ई.पू.) की नींव पड़ी। मौर्यों ने अफगानिस्तान सहित न केवल सम्पूर्ण दक्षिण एशिया पर राज्य किया बल्कि विश्व इतिहास को अशोक जैसा महान सम्राट दिया। भारतीय नव-जागरण की दूसरी लहर का कालखण्ड दूसरी से आठवीं सदी तक माना जा सकता है। उस समय यूरोप अंधकार युग में भटक रहा था। संस्कृत काव्य, नाटक की अमर कृतियाँ, हिन्दू, बौद्ध, जैन दर्शन के गूढ़तम निरूपण, ज्योतिष, नक्षत्र विज्ञान, गणित, बीजगणित, आयुर्वेद के अनुपम सिद्धान्तों की मानवता को देन, सामाजिक विधान के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन, शिल्प के क्षेत्र में बुद्ध और नटराज की अनेक मुद्राओं की सुन्दरतम मूर्तियाँ, नालंदा और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों की स्थापना, अजंता, एलोरा की विश्वविख्यात गुफा चित्रकला, दक्षिण-पूर्व, पूर्व और मध्य एशिया में भारतीय धर्म, दर्शन, रामायण, महाभारत, बुद्ध चरित के आख्यानों, वास्तु-शिल्प का प्रसार, नव-जागरण की इस दूसरी लहर की अप्रतिम देन हैं। इस काल में संस्कृत, प्राकृत, पाली तीनों भाषाओं का पूरा विकास हुआ। अपभ्रंश भी इस काल में विकसित होने लगी थी। इस काल में गुप्त राजवंश की स्थापना (ईसा के बाद वर्ष 320) हुई। पाँचवीं सदी के मध्य तक स्थित गुप्त वंश का राज्यकाल भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है। गुप्त वंश के सम्राटों में समुद्रगुप्त का भारतीय इतिहास में उल्लेखनीय स्थान है।

आदि शंकराचार्य जैसे महान दार्शनिक, कुमारिल भट्ट जैसे मीमांसाकार, गोरखनाथ जैसे योगी, समाज सुधारक और राजशेखर जैसे कवि के बाद भी भारतीय मनीषा में आठवीं से बारहवीं सदी के बीच चिन्तन की उस प्रखरता के सातत्य का अभाव दिखाई

पड़ता है जैसी पहले और दूसरे नव-जागरण के कालखण्ड में थी। यह समाज सुधार के आन्दोलनों का युग था। कम्बोडिया के आंगकोर वाट का विशालतम हिन्दू मन्दिर, खजुराहो, चिदंबरम्, कांजीवरम्, रामेश्वरम्, तंजुवर, म्दुराई, उड़ीसा के भव्यतम मन्दिर और उत्तर भारत के विशालतम किले इसी काल में निर्मित हुए थे। भारत पर मुस्लिम आक्रमण इस काल में तेज हुए।

नव-जागरण की तीसरी लहर क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से, ज्ञानदेव (महाराष्ट्र), बसवेश्वर (कर्नाटक), और उत्तर भारत में रामानन्द के नेतृत्व में रूढ़ि, जातिगत भेदभाव, छुआछूत के विरोध में अपने जातिगत-वर्णगत वर्चस्व को नकारते हुए, डीकास्ट होने की प्रक्रिया में, तेरहवीं सदी में उभरने वाले भक्ति आन्दोलन के साथ जुड़ी है। उसके बाद दूसरी पीढ़ी में कबीर, तुलसी, रैदास (काशी), नानक (पंजाब), चैतन्य (बंगाल), शंकरदेव (असम), नामदेव, तुकाराम (महाराष्ट्र), मीरा (राजस्थान), दादूदयाल (गुजरात) की बानियों, कविताओं, भजनों, कीर्तनों, अभंगों, उपदेशों, उनके द्वारा आरम्भ की गई रामलीला, रास, यात्रा, बाउल गीत, भावना, नाटक, रंगमंच ने भक्ति, मानवीय गरिमा, समानता की जो सरिता प्रवाहित की, उससे पूरा देश आप्लावित हो उठा। तुर्क मूल के रहीम और रसखान पहली पीढ़ी के भारतीय हैं। रसखान जैसा कृष्ण भक्त जायसी जैसा भारतीय परम्परा में रचा-बसा कवि और रहीम जैसा बहु-भाषाविद, कवि, बुद्धिजीवी, सर्वधर्म समभाव के प्रति आस्थावान, साथ ही अद्भुत सेनानायक मिलना मुश्किल है। सूफियों के नाते हिन्दू-मुसलमान दोनों समुदायों को एक-दूसरे को समझने में सहायता मिली। यह प्रक्रिया सत्रहवीं सदी तक चलती रही।

अकबर ने अपने राज्य की सार्वभौमिकता के लिए मुस्लिम जगत के खलीफा की सर्वोच्चता को अस्वीकार किया। उसने इस्लाम से अलग 'दीन-ए-इलाही' की स्थापना की जिस पर पूर्व की पारसी मान्यताओं, हिन्दू धर्म और इस्लाम का मिला-जुला प्रभाव है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका वह प्रधान और दुनियावी दृष्टि से देश का बादशाह था। अकबर का यह कदम यूरोप में घटित रेनेसाँ जैसा ही है। अकबर के समय आगरा और फतेहपुर सीकरी हिन्दू, मुस्लिम, पारसी, ईसाई, जैन, बौद्ध धार्मिक-दार्शनिक विचार-विमर्श के विश्वकेन्द्र बन गए थे। उसके पास ही वृंदावन वैष्णव भक्ति आन्दोलन का केन्द्र था। विजयानगरम के भग्न राजप्रासाद, दिल्ली में हुमायूँ का मकबरा, लालकिला, जामा मस्जिद, अकबर का मकबरा, ताज महल, फतेहपुर सीकरी का बुलंद दरवाजा, आगरा और इलाहाबाद का किला भवन निर्माण के नायाब नमूने हैं। इस युग में तानसेन जैसा संगीतज्ञ, अबुल फजल जैसा इतिहासकार और टोडरमल जैसा भूमि प्रबंधक था। मुगल चित्रकला का इस समय विकास हुआ।

;Wरोप के सन्दर्भ में रेनेसाँ, औद्योगिक क्रान्ति, साम्राज्यवादी विस्तार, पूँजीवाद का अभ्युदय और राष्ट्र-राज्य की अवधारणा अति विशिष्ट ऐतिहासिक परिघटनाएँ हैं। वैसे ही भारतीय सन्दर्भ में अंग्रेजी राज से जुड़ा उपनिवेशवाद एक ऐसी परिघटना है जिसके परिणामस्वरूप राजनीति, सार्वभौमिकता, अर्थतंत्र, संस्कृति, भाषा, आत्मविश्वास छिन्न-भिन्न हो गए। इससे जो दिमागी धुलाई, ब्रेन वाशिंग हुई और उसके फलस्वरूप उपजी मानसिक गुलामी के कारण उपनिवेशवाद प्रसूत पश्चिमीकरण को अनेक इतिहासकारों ने आधुनिकता/प्रगति/राष्ट्रीयता (बिपिनचन्द्र आदि : दसवीं आवृत्ति 1994)⁸ का पर्याय मान लिया। यूरोप के अनुकरण पर, भारत में अंग्रेजों से ठीक पहले के काल को 'अंधकार युग' मान लिया गया। इस तरह राममोहन रॉय के नेतृत्व में चले बौद्धिक-सामाजिक आन्दोलन को 'नव-जागरण' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अनेक इतिहासकार इसे भारतीय नव-जागरण न कहकर, मात्र 'बंगाल नव-जागरण' कहना पसन्द करते हैं (अरुण भट्टाचार्जी : द्वितीय संस्करण, 1988)⁹। अंग्रेजी उपनिवेशवाद भारत के लिए कितना अभिशाप अथवा वरदान सिद्ध हुआ, इसका परस्पर विरोधी विश्लेषण कार्ल मार्क्स और भारतीय मार्क्सवादियों के लेखन, (देसाई : 1959)¹⁰ और पंडित सुन्दरलाल की पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज' में विस्तार से हुआ है। मार्क्सवादियों के अनुसार भारत में अंग्रेजी राज के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों योगदान हैं। सुन्दरलाल इसके आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अभिशापों का विस्तार से वर्णन करते हैं। अंग्रेजी राज के ठीक पहले के भारत की शिक्षा, उत्पादन पद्धति, प्रविधि, सामाजिक स्थिति के विषय में धर्मपाल ने बहुत कुछ लिखा है। लेकिन पश्चिम से आक्रांत इतिहास लेखन और समाजशास्त्रीय दृष्टि उनके प्रति अग्रहणशील रही है।

उन्नीसवीं सदी के प्रथम तीन दशकों में अपनी बौद्धिक तीक्ष्णता, हिन्दुओं की रूढ़िवादिता पर प्रहार, सामाजिक सुधार के कारण राममोहन रॉय का (1772-1833) विशिष्ट स्थान है। उनका जन्म बर्दवान जिले के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता ने अरबी-फारसी की पढ़ाई के लिए उन्हें पटना भेज दिया। वहाँ पर उन पर इस्लाम और सूफी पंथ का प्रभाव पड़ा। पटना से लौटने के बाद वे हिन्दुओं में घर कर गई रूढ़ि के विरुद्ध बोलते थे। पिता ने इस पर उन्हें घर से निकाल दिया। यायावरी के इसी दौर में वे वाराणसी गए। वहाँ उन्होंने संस्कृत और हिन्दू दर्शन का अध्ययन किया।

1803 में मुर्शिदाबाद वापस लौटने के बाद उन्होंने एकेश्वरवादियों को समर्पित 'तुहफुल-उल-मुवाहिदीन' शीर्षक से फारसी में एक लम्बा लेख लिखा। इसमें उन्होंने एकेश्वरवाद, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन, रूढ़ियों का विरोध, विवेकशीलता पर बल

दिया। इस पर उपनिषदों के दर्शन, शंकराचार्य के अद्वैत के एकेश्वरवाद और पटना में पढ़ी गई फारसी-अरबी का प्रभाव है। 1809 के पहले उन पर पश्चिमी विचारों, ईसाई मजहब और अंग्रेजी भाषा का प्रभाव न के बराबर था। राजस्व विभाग में काम करते हुए उनकी सन् 1809 में उत्तरी बंगाल के रंगपुर में अंग्रेज राजस्व अधिकारी जॉन डिग्बी के कार्यालय में नियुक्ति हुई। यहाँ पर वे पाँच वर्ष रहे। डिग्बी के पास इंग्लैण्ड से बहुतेरी पत्र-पत्रिकाएँ आती रहती थीं। इनको पढ़ने से उनकी अंग्रेजी भाषा की समझ बढ़ी। इनके माध्यम से वे यूरोपीय विचारधारा से परिचित हुए। सन् 1814 में डिग्बी ने भारत छोड़ दिया। उसी वर्ष राममोहन रॉय ने भी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। (सौमेन्द्र नाथ टैगोर : 1972)¹¹

कलकत्ता में आत्मीय सभा (1815) के माध्यम से वे समाज सुधार के कार्यक्रमों में जुट गए। उन्होंने कुलीन विवाह, बहु-विवाह, सती प्रथा का विरोध किया। उपनिषदों और वेदांत सूत्र का उन्होंने बांग्ला में अनुवाद किया। सभी धर्मों की अच्छाइयों को एकत्रित कर वे एक विश्वव्यापी धर्म के पक्षधर थे। कलकत्ता में कम्पनी सरकार द्वारा संस्कृत कालेज खोलने के विरुद्ध, इस आधार पर कि संस्कृत शिक्षा देश को अंधकार में रखेगी, उन्होंने गवर्नर जनरल को पत्र लिखा। उसके बाद ही हिन्दू कॉलेज खोलने की योजना बनी।

राममोहन के लेखन, संगठन, पत्रकारिता से कलकत्ता में नई सामाजिक चेतना का संचार हुआ। उनकी बातों का असर कम्पनी सरकार और इंग्लैण्ड के कुछ उदार बुद्धिजीवियों पर भी पड़ा। सभी मजहबों के एकेश्वरवादियों को एक मंच प्रदान करने के लिए राममोहन रॉय ने ब्रह्म सभा (1828) की स्थापना की। उनकी मृत्यु के बाद इसका नाम बदल कर 'ब्रह्मसमाज' कर दिया गया। दूसरी ओर ईसाई मत से प्रभावित और हिन्दू समाज के दोष गिानेवाले हिन्दू कॉलेज से पढ़कर निकले केशवचन्द्र सेन और माइकेल मधुसूदन दत्त जैसे लोग थे जिन्होंने ईसाई मजहब स्वीकार कर लिया था। इनका विश्वास था कि ईसाइयत और अंग्रेजी राज भारत वर्ष और हिन्दू धर्म को अंधकार के गर्त से निकालने का काम कर रहे हैं। इसी तरह राममोहन रॉय के आकलन में उनके एक जीवनीकार का मानना है : 'मरी हुई परम्पराएँ, जड़ हो चुके रिवाज और मूर्खतापूर्ण कट्टरता देश की जीवनी-शक्ति सोख चुके थे, निर्मम अंधकार चारों ओर बिखरा हुआ था। व्यर्थता और शुष्कता के इसी आरम्भ में राममोहन रॉय का पदार्पण हुआ।' वे आगे लिखते हैं, 'दोनों (राममोहन रॉय और द्वारिका नाथ टैगोर) ने अपनी दूरदर्शिता से जान लिया कि इतिहास भारत पर ब्रितानी शासन के माध्यम से भारत को पिछले दशक में मुसलमानों के शासन की जड़ता से मुक्त करा रहा है।' (सौमेन्द्रनाथ टैगोर : 1972)¹²।

राममोहन रॉय ने संस्कृत कॉलेज की स्थापना का विरोध किया था। लेकिन उस परम्परा से जुड़े अथवा संस्कृत कॉलेज में पढ़े अनेक लोगों का बंगाल के सुधार आन्दोलनों और सामाजिक चेतना के प्रसार में अग्रणी स्थान है। एक परम्परावादी

ब्राह्मण परिवार में जन्मे, संस्कृत, फारसी, बांग्ला, हिन्दी, उड़िया पर समान अधिकार रखनेवाले भारतचन्द्र राय (1712-60) के बांग्ला लेखन में जाति, पंथ, पूजा की रूढ़िवादिता की आलोचना है। रामानन्द यती ने चंडी के साक्षात प्रकट होने के 'झूठ के निराकरण के लिए' बांग्ला में 'चंडी मंगल' (1766) लिखा था। संस्कृत कॉलेज के विद्यार्थी और बाद में इसके प्रिंसिपल रहे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (1820-91), रामनारायण 'तर्करत्न' (1822-1866), मदनमोहन 'तर्कालंकार' (1815-57) ने विधवा विवाह के समर्थन, बाल विवाह और बहु-विवाह के विरोध में न केवल बहुत कुछ लिखा है बल्कि इनके लिए आन्दोलन भी चलाया। अंग्रेजी शिक्षा के कारण समाज सुधार की बात करनेवाले लोगों को इस कथन से आश्चर्य होगा कि समाज सुधार की चेतना का प्रभाव अंग्रेजी शिक्षित युवा बंगाली वर्ग में कम दिखाई पड़ा वनिस्पत उन लोगों के जिन्होंने मुख्यतः संस्कृत शिक्षा ग्रहण की थी। (सुकुमार सेन : 1978)¹³

बम्बई में जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे के प्रयत्न से ब्रह्म समाज से प्रेरित होकर, जाति भेद, बहु-विवाह, बाल-विवाह के विरोध और समाज सुधार के कार्यक्रमों को गतिशील बनाने के लिए 'प्रार्थना समाज' (1867) और मद्रास में 'वेद समाज' की स्थापना हुई। कलकत्ता की तरह ही बम्बई प्रेसीडेंसी में अंग्रेजी राज और अंग्रेजियत से प्रभावित कुछ थोड़े-से लोगों के बीच सुधार की रव में ईसाइयत का प्रभाव पड़ता है। ज्योतिबा फुले के नेतृत्व में पिछड़ी और दलित जातियों का द्विजों के वर्चस्व के विरोध में आन्दोलन उभरा जिसका बीसवीं सदी में तमिलनाडु में जस्टिस पार्टी, डी. के. डी. एम. के., महाराष्ट्र में कोल्हापुर के राजा साहू जी और डॉ. भीमराव अंबेडकर की विचारधारा पर प्रभाव पड़ा। बम्बई में उन्नीसवीं सदी में पश्चिमीकरण और अंग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक प्रभाव पारसियों पर पड़ा। उस काल में इस छोटे से समुदाय ने जमशेद जी नसरवान जी टाटा, दादाभाई नौरोजी और फिरोजशाह मेहता जैसे दिग्गजों को पैदा किया जिनका भारतीय उद्योग और राष्ट्रीयता की भावना के विकास में शीर्षस्थ योगदान है।

सन् 1857 के विद्रोह में हिन्दू-मुसलमानों ने जिस तरह मिलकर विदेशी शासन के खिलाफ लड़ाई लड़ी, उससे अंग्रेज अधिकारियों में घबराहट फैली। उन्होंने मजहब और जाति आधारित सुधार आन्दोलनों को संरक्षण प्रदान किया। सरकारी नौकरी, स्थानीय निकायों के चुनावों की प्रतिस्पर्धा, उपाधियों और पदवियों की लालच, सत्ता प्रतिष्ठान से सम्पर्क बढ़ा कर लाभ उठाने की लालसा के कारण मजहबी (जातिगत स्पर्धा) संघर्ष तेज हुआ। अंग्रेजी प्रशासन में मुंसिफ के पद पर कार्यरत सर सैयद अहमद ने इस बात को साबित करने की भरपूर कोशिश की कि 1857 के विद्रोह में मुसलमानों की भूमिका नहीं थी। उन्होंने मुसलमानों के बीच अंग्रेजी शिक्षा और राजभक्ति के प्रसार पर बल दिया। वे अलीगढ़ में ऐंग्लो-मुहम्मदन कॉलेज के संस्थापक थे जो आज अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के नाम से जाना जाता है।

गुजरात में जन्मे स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-83) और उनके द्वारा स्थापित 'आर्यसमाज' का सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में अद्भुत योगदान है। उन्होंने जातिगत भेदभाव, छुआछूत, बाल-विवाह, बहु-विवाह, मूर्तिपूजा और अन्य सामाजिक कुरीतियों का डटकर विरोध किया। उन्होंने स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह और समुद्र यात्रा को प्रबल समर्थन प्रदान किया। इन बातों में राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महादेव गोविन्द रानाडे में बड़ी समानता है। राममोहन राय और रानाडे पश्चिमी विचारों और ईसाई मजहब की कार्य पद्धति से प्रभावित थे। वे अंग्रेजी राज को भारत के उद्धारक और अंग्रेजी भाषा को आधुनिकता की कुंजी के रूप में देखते थे। वहीं स्वामी जी का कर्म और चिन्तन विशुद्ध भारतीय परम्परा की देन है। उनका संस्कृत पर अगाध पांडित्य था। गुजराती उनकी मातृभाषा थी। फिर भी अपने ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' को उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी में लिखना पसन्द किया। वे भारत में विदेशी आधिपत्य के विरोध, 'स्वराज' की अवधारणा के प्रवर्तक के नाते अपने पूर्ववर्तियों और समकालीनों से अधिक आधुनिक हैं। राय और रानाडे जहाँ अपनी विलक्षण प्रतिभा से वैचारिक वैधता प्रदान कर उपनिवेशवादी जड़ों को मजबूत करते हैं, वहीं दयानन्द उसके विरुद्ध प्रतिरोध की संस्कृति उभारते हैं। आर्यसमाज का स्वाधीनता आन्दोलन में महत योगदान है।

रामकृष्ण परमहंस (1834-1886) की साधना और व्यक्तित्व का देश और विदेश में व्यापक प्रभाव पड़ा। उनके शिष्य विवेकानन्द (1863-1902) ने वेदान्त का प्रचार किया। उदार हिन्दू धर्म की अलख जगाई। दरिद्र नारायण की सेवा पर बल दिया और रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। मिशन आज भी वेदान्त के प्रचार और जनसेवा में संलग्न एक सक्रिय संगठन है। दयानन्द ने राष्ट्रीयता की जो अलख जगाई उसे थियॉसॉफिकल सोसायटी (1882) और श्री अरविन्द (1872-1950) के कर्म और चिन्तन से नई दिशा मिली।

5

jkममोहन राय और द्वारिका नाथ टैगोर का मानना था कि भारतीय जड़ता के मूल में दीर्घ अवधि के मुस्लिम शासन का प्रभाव है। बंकिम चन्द्र के उपन्यास आनन्दमठ (1882) का 'बंदेमातरम्' हमारी राष्ट्रीयता का बीजमंत्र बन गया। उनके उपन्यासों में हिन्दू अस्मिता का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता गया था। सर सैयद अहमद खॉं ने 1888 में ही यह घोषित कर दिया था कि यह कभी भी सम्भव नहीं है कि हिन्दू और मुसलमान जो दो अलग राष्ट्र हैं, एक ही सिंहासन पर समान अधिकार के साथ बैठ सकते हैं। ज्योतिबा फुले की जातिगत भेदभाव के विरोध की धार द्विजों के प्रति

नफरत का रूप ले लेती है। उन्नीसवीं सदी के मजहब/जाति आधारित समाज सुधार के आन्दोलनों का क्षेत्र सीमित है। उनमें न तो यूरोपीय रेनेसाँ जैसा विवेक है न तो भक्ति आन्दोलन जैसी व्यापकता और पूरे समाज को आन्दोलित करने की क्षमता। वे अपने मजहब के भीतर की कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाकर सामाजिक चेतना को तो प्रखर करते हैं लेकिन विदेशी आधिपत्य विरोधी उभरती समन्वित भारतीय राष्ट्रीयता की विचारधारा को कुंद करते हैं।

हिन्दू समाज की कुरीतियों, निरक्षरता, पिछड़ेपन को पश्चिम के अनुकरण से दूर करने की सलाह देते हुए राय उस समय की इंग्लैण्ड में व्याप्त कुरीतियों से बिलकुल अनजान बने रहते हैं। स्त्रियों को चुड़ैल समझ कर जलाने, यहूदियों और जिप्सियों के साथ पशुवत व्यवहार, अफ्रीकी मूल के लोगों को जानवरों की तरह पकड़कर उनका गुलाम व्यापार, साधारण लोगों के लिए सार्वजनिक स्थानों पर मृत्युपर्यंत कोड़े से पीटे जाने की सजा, इंग्लैण्ड में सन् 1820 में जब जॉर्ज तृतीय का शासनकाल समाप्त होता है तब तक 260 छोटे बड़े अपराधों के लिए बच्चों, स्त्रियों, पुरुषों को मौत की सजा का प्रावधान जैसी अमानवीय कुरीतियाँ राममोहन राय के समकालीन यूरोप में विद्यमान थीं। धर्मपाल (2001)¹⁴ के अनुसार इंग्लैण्ड की फौज में 1850 तक 2000 कोड़े तक मारने की सजा दी जाती रही थी। 1900 तक वहाँ पर ऊँचनीच की भावना प्रबल थी। 90 प्रतिशत लोग वहाँ 'लोअर ऑर्डर' के माने जाते थे। 1750 के बाद अंग्रेजों ने भारत को भी उसी साँचे में ढालने के लिए धर्मशास्त्र और समाज व्यवस्था की एकमात्र पुस्तक के रूप में 'मनुस्मृति' को महिमामंडित करना आरम्भ किया। 1750 के पहले आज की दलित कही जानेवाली जातियों का ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में अपने पेशे के महत्त्व और अपने *गिल्ड/जाति* पंचायत की मजबूती के कारण सम्माननीय स्थान था। उत्तर भारत में पासवान, दुसाध, पासी, महाराष्ट्र में महार और तमिलनाडु में पेरियार दलित जातियों पर गाँव की सुरक्षा का दायित्व था। वे फौज में सिपाही होते थे। 1770 में वारेन हेस्टिंग्स द्वारा तैयार कराए गए एक दस्तावेज के अनुसार दक्षिण भारत में दलित चमड़े का काम करते हुए भी अपने को 'बहादुर सिपाही' मानते थे। उनकी अपनी गरिमामय आत्म-छवि थी (धर्मपाल : वही)¹⁵ आज के उत्तर प्रदेश में अंग्रेजों के पहले पासियों, राजभरों, डोमों के अपने राज्य थे। मुस्लिम और अंग्रेजी राज्यकाल में उनका प्रभुत्व नष्ट हुआ। बनारस में आज भी डोम राजा अति सम्मान के साथ रहते हैं। 1832 के आंकड़ों के अनुसार 22 वर्ष से अधिक उम्र के वयस्कों में से केवल 7 प्रतिशत पुरुषों को इंग्लैण्ड में वोट देने का अधिकार था। 1918 तक स्त्रियों को वोट देने का अधिकार नहीं था। उस समय इंग्लैण्ड के जिस उदारवादी मुखौटे से राय अभिभूत हैं, उसके महानतम प्रतिनिधि एडिनबरा विश्वविद्यालय में 1770-80 में आधुनिक दर्शन के प्रोफेसर एडम्स फर्ग्युसन की राय थी कि भारत में शासन करने और लूट का धन लाने का काम प्राइवेट लोगों,

कम्पनी के नौकरों और कम्पनी द्वारा ही किया जाना ठीक है क्योंकि इससे ज्यादातियों की अनदेखी करने में आसानी होगी। इंग्लैण्ड की सरकार केवल देख-रेख का काम करे।

यह सही है कि औरंगजेब के निधन (1707) के बाद केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हुई और मुगल राज्य ने जो राजनीतिक एकीकरण कर रखा था वह छिन्न-भिन्न हो गया। 1707 से 1758 के बीच मुगल सिंहासन पर कठपुतली की तरह आठ बादशाह बैठे। दरबारियों और वजीरों के षड्यंत्र में या तो वे पदच्युत अथवा कत्ल कर दिए गए। इसने देश में राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा दिया। मुस्लिम शासनकाल में समाज और राज्य के अन्वयन्याश्रित सम्बन्ध भी कमजोर हुए। फिर भी सामाजिक रीति-रिवाजों, ग्राम समुदायों, गिल्ड, जाति पंचायतों, आदिवासियों की स्थानीय स्वायत्तता विद्यमान रही। राज्य इन पर नियंत्रण स्थापित करने अथवा उनमें हस्तक्षेप करने की चेष्टा नहीं करता था। पेशे *समूह/गिल्ड*, ग्रामीण संरचना, उससे जुड़े सत्ता और अर्थव्यवस्था का विकेन्द्रीकरण, परिवार तथा परम्पराओं के कारण सामाजिक सुदृढ़ता और *जातिगत/पारिवारिक* प्रशिक्षण से प्राप्त पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होनेवाले ज्ञान और हुनर से जुड़े मानव संसाधन की गुणवत्ता बनी रही। इस कारण उत्पादन की पद्धति, प्रविधि, 10 से 25 प्रश के बीच करों का ढाँचा स्थिर बना रहा। हमलावरों की लूट और उससे उपजी अराजकता के बाद भी अनाज, फलों, मसालों, कपड़ों, दरी-गलीचों, सिल्क के वस्त्रों, इस्पात और उससे बने हथियारों, चमड़े, लकड़ी के सामानों, सोना, चाँदी, पीतल, हीरा, मोती और उनसे बने आभूषणों-बर्तनों, सजावट के सामानों, गहनों का उत्पादन आन्तरिक खपत और बाहरी निर्यात के लिए प्रचुर था। 1739 में नादिरशाह के हमले और लूट के बाद भी 1750 में विश्व व्यापार में भारत का अंश 24 प्रश था (पाल केनेडी : 1983)¹⁶। उस समय पूरी दुनिया के उत्पादन का 73 प्रश भारत और चीन में होता था।

18वीं सदी में वैभवपूर्ण नए नगरों का नियोजन और विकास देश की समृद्धि का परिचायक है। आज भी हिन्दुस्तान के सबसे खूबसूरत जयपुर, मैसूर, इन्दौर, लखनऊ, बंगलौर, पुणे जैसे नगरों की या तो अंग्रेजों के राज के पहले 18वीं सदी में नींव पड़ी या स्वतन्त्र सत्ता और समुन्नत संस्कृति के केन्द्र के रूप में इनका विकास हुआ। मुर्शिदाबाद देखने के बाद क्लाइव कहता है कि यह लन्दन से बड़ा है और वह उसकी समृद्धि पर मुग्ध हो जाता है। अपनी पेंशन के सिलसिले में दिल्ली से कलकत्ता की यात्रा में 1828 में बनारस की रौनक और वैभव देखकर गालिब कहते हैं कि दिल चाहता है कि धर्म बदल लूँ और यहीं रहूँ। 1857 के विद्रोह में युद्ध का अवलोकन करते हुए लन्दन 'टाइम्स' का संवाददाता विलियम रसेल लखनऊ के बारे में कहता है कि इतना खूबसूरत शहर मैंने दुनिया में कोई और नहीं देखा है। जयपुर, उदयपुर, ग्वालियर, हैदराबाद, मैसूर, असम के अहोम राजाओं के शिवसागर के राजप्रासाद,

राजस्थान की हवेलियाँ, लखनऊ के ऐतिहासिक भवन, वाराणसी के घाट इस काल की वास्तु स्थापत्य और निर्माण कला के अद्भुत नमूने हैं। इसी काल में सवाई राजा जयसिंह ने नक्षत्रविज्ञान और ज्योतिष के अध्ययन के लिए जयपुर, मथुरा, काशी, दिल्ली में वेधशालाएँ (जन्तर-मन्तर) बनवाईं। लेकिन कम्पनी के राज के साथ किसानों की लूट और दस्तकारों के दमन का जो दौर आरम्भ हुआ उसने भारत को आर्थिक रूप से जर्जर कर दिया। प्रसिद्ध इतिहासकार मोरलैण्ड मानता है कि कम्पनी के शासन ने भारत को राजनीतिक रूप से गुलाम और आर्थिक क्षेत्र में जड़ बना दिया। कारीगरों पर जुल्म और व्यापार में कम्पनी के बढ़ते एकाधिकार के फलस्वरूप ढाका, मुर्शिदाबाद, सूरत, भड़ौच शहर जो व्यापार और उत्पादन के केन्द्र थे, उजाड़ हो गए।

18वीं सदी के भारतीय सामन्तवाद/शासक वर्ग के दो पक्ष हैं। पहला पक्ष तो उन पतनशील, देश-समाज की चिन्ता से रहित, स्वाभिमान से हीन, जुगाड़वादी शासकों का है जो किसी भी कीमत पर, सार्वभौमिकता का सौदा कर अपने राज्य, जागीर, पेंशन, छोटे स्वार्थ को बचाए रखने में रत थे। इस वर्ग में पराश्रित मुगल बादशाह, उनके षड्यंत्रकारी दरबारी, निजाम हैदराबाद, अवध के विलासी नवाब, अर्काट का नवाब और मीरजाफर जैसे लोग हैं। दूसरे वर्ग में नेतृत्व के गुणों से युक्त, साधारण धरों में पैदा होकर, सत्ता के उच्चतम शिखर पर पहुँचनेवाले पूना में बाजीराव प्रथम, मैसूर में हैदर अली, भरतपुर में सूरजमल, ग्वालियर में महाद जी सिन्धिया, इन्दौर में अहिल्या बाई और पंजाब में रणजीत सिंह जैसे लोग हैं। कला पारखी, नक्षत्रविज्ञानी, जयपुर के जयसिंह और मराठा महासंघ के संस्थापक नाना फड़नवीस का अलग से मूल्यांकन अपेक्षित है। हैदर अली, महाद जी सिन्धिया, अहिल्या बाई और रणजीत सिंह सर्वधर्म समभाव के प्रतीक हैं। निरक्षर होते हुए भी हैदर अली और रणजीत सिंह की सूझबूझ आश्चर्यचकित कर देनेवाली है। राजधर्म के अनुपालन में कोई भी अंग्रेज गवर्नर जनरल इनके समकक्ष नहीं ठहरता। हैदर अली और टीपू दोनों विदेशी आधिपत्य के बढ़ते खतरे के प्रति सचेत थे।

टीपू ने अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने की हर कोशिश की। उसकी नजर अमेरिकी और फ्रेंच दोनों राजक्रान्तियों पर थी। अमेरिकी राजक्रान्ति में अंग्रेजों के उलझे रहने और फ्रांसीसियों द्वारा उसमें अंग्रेजों का खुलकर विरोध करने के कारण टीपू की नीति फ्रांसीसियों से सहयोग की थी। फ्रांस की राजक्रान्ति के 'लिबर्टी' के नारे से टीपू को विदेशी आधिपत्य विरोधी भावना को 'स्वाधीनता' की अवधारणा के रूप में वैचारिक आधार मिला। उसने अंग्रेजों के विरुद्ध सहयोग के लिए नेपोलियन बोनापार्ट को पत्र लिखा। अफगानिस्तान, ईरान, तुर्की से भी गठजोड़ की चेष्टा की।

देश की बिखरी ताकतों की एकता, प्रतीकात्मक केन्द्रीय सत्ता की आवश्यकता, मिली-जुली भारतीय राष्ट्रियता और विदेशी आधिपत्य के खतरों के प्रति सबसे साफ दृष्टि बाजीराव प्रथम (1720-40), नाना फड़नवीस (1774-1800) और महाद जी

सिन्धिया के नेतृत्व में मराठा राजनय को है। पेशवा की सर्वोच्चता में महासंघ बनाकर उन्होंने अपने सेनानायकों भोंसले, गायकवाड़, होल्कर, सिन्धिया के बीच सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया। मुगल बादशाह की प्रतीकात्मक सर्वोच्चता को उन्होंने स्वीकार किया। वे दक्षिण में विदेशियों के सत्ता संघर्ष, पूरब में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ताकत, पश्चिमोत्तर से नादिरशाह और अहमद शाह अब्दाली के हमलों की काट ढूँढ़ने की हर कोशिश करते हैं। 1761 में अब्दाली के हमले के प्रतिकार के लिए वे पानीपत में भीषणतम युद्ध लड़ते हैं। पराजय के बाद भी वे फिर से उठ खड़े होते हैं। 1740-1818 के बीच वे देश की सबसे बड़ी राजनीतिक ताकत बने रहते हैं। मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय को 1771 में वे कम्पनी की छत्रछाया में इलाहाबाद के किले में वापस लाकर पुनः दिल्ली के तख्त पर आसीन कराते हैं। 1782 में अंग्रेजों को वे सालबाई में अपने मन माफिक सन्धि करने पर बाध्य करते हैं। मराठा-मुगल गठबन्धन के तहत मुगल बादशाह ने पेशवा को 'वकील-ए-मुल्क' की पदवी से नवाजा। बादशाह के बाद यह सबसे बड़ा पद था।

इन घटनाओं से इस बात की पुष्टि होती है कि उस समय भारत में 'हम' और 'वे', 'देशी' और 'विदेशी' की स्पष्ट समझ थी। विदेशी आधिपत्य के प्रतिरोध के बीच से समन्वित भारतीय राष्ट्रीयता की आरम्भिक विचारधारा उभर रही थी। जब जर्मनी करीब दो दर्जन राज्यों में विभाजित था, इटली का अभी एकीकरण नहीं हुआ था, अमेरिका अभी उपनिवेश और अनेक प्रदेशों में बिखरा था, भारत की इस आरम्भिक राष्ट्रीयता का उभार कम महत्वपूर्ण नहीं है। आपसी फूट और गद्दारी, के कारण भारत का प्रतिरोधी सामन्तवाद भी विदेशी आधिपत्य के सम्मुख टिक न सका और देश गुलाम हुआ।

देश की साधारण जनता, किसानों, कारीगरों, श्रमिकों, आदिवासियों, साधु-संन्यासियों और फकीरों में अपने स्तर पर लड़ने की अधिक क्षमता थी। भूमि प्रबन्धन के मनमाने नियम, लगान की दर में बेतहाशा बढ़ोतरी, वनों पर सरकारी एकाधिकार, कारीगरों के उत्पादों की लूट, जनता पर जानवरों की तरह ढाए जानेवाले जुल्म, पुराने सामन्तों की पदच्युति से विदेशी शासन के प्रति बढ़ती नफरत के फलस्वरूप 1757-1857 के बीच सैकड़ों विद्रोह हुए। कलकत्ता के बौद्धिक क्षितिज पर राममोहन के उदय के बाद विदेशी शासन के विरोध में बंगाल में संन्यासी विद्रोह, दक्षिण भारत में पोलीगरों, बिलासपुर में राजपूतों, असम में खासियों का विद्रोह होता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के फैलते पंजे उस समय एक के बाद एक मैसूर, मराठों, राजपूतों, जाटों, अवध के एक बड़े हिस्से, असम, कछार और जयन्तिया के आदिवासी राज्यों को दबोचते चले जाते हैं। 1823 में स्पेन के आधिपत्य से दक्षिण अमेरिकी देशों की आजादी की खुशी में दावत देनेवाले, तुर्कों के खिलाफ यूनियनों की स्वतंत्रता के समर्थक, फ्रांसीसी क्रान्ति के झण्डे का अभिवादन करनेवाले राममोहन राय भारत में

जनता पर होनेवाले दमन, गुलामी के बढ़ते शिकंजे, क्लाइव और हेस्टिंग्स के जुल्म, भ्रष्टाचार, लूट, जिनके कारण इंग्लैण्ड में भी उन पर महाभियोग चला था, जैसी घटनाओं पर खामोश रह जाते हैं।

उस समय के बुद्धिजीवी समाज में दो धाराएँ परिलक्षित होती हैं। बांग्ला कवि माधव अपनी पुस्तक 'चण्डीमंगल' (1579) में अकबर को अर्जुन के अवतार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' की बात करते हैं। भविष्य पुराण में मुस्लिम राज्य के बाद गोरों के राज की बात कही गई। उन्नीसवीं सदी में विक्टोरिया की प्रशस्ति में 'विक्टोरिया पुराण' लिखा गया। दूसरी ओर बंगाल में वारेन हेस्टिंग्स के समकालीन राधामोहन के गीत से लेकर दीनबन्धु मित्र (1829-74) के 'नीलदर्पण' (1860) के प्रकाशन तक अनेक जाने-अनजाने कवि-लेखक हैं जो जुल्म के खिलाफ आवाज उठाते हैं। राधामोहन का 'सड़क का गीत' हेस्टिंग्स द्वारा ट्रंक रोड के निर्माण के लिए बलात इकट्ठा किए गए मजदूरों पर होनेवाले जुल्म का कारुणिक वर्णन करता है। 'नीलदर्पण' नाटक में नील गोदामों के अंग्रेज मालिकों द्वारा किसानों पर ढाए जानेवाले जुल्म और शोषण का चित्रण है।

1832-37 के बीच ऐडम द्वारा बंगाल-बिहार के विषय में तैयार की गई रिपोर्टों, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफसरों द्वारा मद्रास-बम्बई प्रेसीडेंसी और पंजाब के सर्वेक्षणों, धर्मपाल की पुस्तकों, लेखों से इस बात की जानकारी मिलती है कि उस समय गाँव-गाँव में जीवन्त सामुदायिक शिक्षा प्रणाली थी जिसके दरवाजे किसी के लिए बन्द नहीं थे। साक्षरता का स्तर इंग्लैण्ड से अधिक था। कविता, चित्रकला, भवन निर्माण कला की नई शैलियों का भी प्रयोग हो रहा था। हिन्दी का यह रीतिकाल था। रस, छन्द, अलंकार के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग हो रहे थे। ब्रजबोली हिन्दी की सुकुमार अभिव्यक्ति बिहारी, घनानन्द, देव, पद्माकर की कविता में अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इस सदी में मीर और सैदा जैसे कवि थे। पहाड़ी चित्रकला, मणिपुरी और असम के सत्रिया नृत्य (जो अब शास्त्रीय रूप ले चुके हैं) का विकास इसी काल में हुआ। मणिपुर में गोविन्द जी, असम के शिवसागर में विष्णु, शिव, दुर्गा, आन्ध्र में गोदावरी के तट पर भद्राचलम में एक आदिवासी की पहल पर प्रतिष्ठापित सीताराम के मन्दिर और मैसूर के महाराजा कृष्ण वोदयार द्वारा वहाँ के महलों और मन्दिरों में उत्कृत शतरंज के खेल जैसी दुःसाध्य पहेलियाँ इसी काल की देन हैं।

6

1818 में मराठा राजसत्ता ध्वस्त हो जाने के बाद, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का असम, पंजाब, सिन्ध तथा कुछ दूर तक अवध को छोड़कर, शेष भारत पर एकछत्र अधिकार

हो गया। 1826-56 के बीच इन बचे-खुचे प्रदेशों पर भी उन्होंने कब्जा कर लिया। रियासतों के राजाओं/नवाबों को ब्रिटिश सत्ता की अधीनता स्वीकार करने के बाद अंग्रेजों ने बनाए रखा। भूमि के स्थायी बन्दोबस्तवाले इलाकों में विचौलिए के रूप में अंग्रेजों ने जमींदारों का सृजन किया। इतने बड़े भूक्षेत्र पर राज करने के लिए अंग्रेजी जाननेवाले गैर-फौजी लोगों की भी जरूरत थी। इस तरह राजाओं, नवाबों, जमींदारों, तालुकदारों, फौज के सिपाहियों, पुलिस और गाँव तक के उसके मुखबिरो, माल, न्याय विभाग में काम करनेवालों और अंग्रेजी जाननेवाले 'राजभक्त' लोगों का वर्ग पैदा हुआ। वे अपने न्यस्त स्वार्थों के संरक्षण के लिए किसी भी कीमत पर उपनिवेशवादी शासन से सहकार करने के लिए तत्पर थे। दूसरी ओर अपने राज्य/तालुके से वंचित राजाओं/नवाबों/जमींदारों, बढ़ती लगान और जुल्म के अन्दर कराहते किसानों, रोजी से वंचित कारीगरों, अपने भूक्षेत्र तथा वन सम्पदा से वंचित आदिवासियों, छिटपुट बड़े नगरों और गिनेचुने जिला केन्द्रों पर खुले अंग्रेजी स्कूलों के कारण गाँवों के लाखों बेरोजगार शिक्षकों, संन्यासियों-फकीरों में गहरा असन्तोष था।

अंग्रेजी जाननेवाले, उच्च पदस्थ अंग्रेजों के सम्पर्क में कुछ भारतीय थे जो अंग्रेजी की पढ़ाई, समाज-सुधार आदि सवालों को उठाते हुए 'राजभक्त' के नाते सरकार को सलाह देते रहते थे। क्लाइव और हेस्टिंग्स पर ब्रिटिश संसद में महाभियोग लगने के बाद उच्च पदस्थ अंग्रेजों को ऐसे लोगों की जरूरत थी जिन्हें वे इंग्लैण्ड में अपने कुशासन पर परदा डालने के लिए भारत के प्रतिनिधि के रूप में पेश कर सकें। ऐसे लोगों पर विदेशी सरकार की विशेष अनुकम्पा थी। मुगल बादशाह अकबर द्वितीय से कम्पनी ने राममोहन रॉय को 'राजा' की पदवी दिलवाई। इंग्लैण्ड में उन्हें भारत के प्रतिनिधि, राजदूत और राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया। रानाडे जज बनाए गए। सैयद अहमद मुंसिफ थे। उन्हें 'सर' की पदवी प्रदान की गई। सेवानिवृत्ति के बाद सरकार ने अपने खर्च से इलाहाबाद में बीस एकड़ की परिधि में एक भवन बनवाकर उन्हें दिया। बाद में जिसे मोतीलाल नेहरू ने खरीद लिया और जो आज आनन्द भवन के नाम से जाना जाता है।

1857 तक कम्पनी की फौज तीन हिस्सों में विभाजित थी। बंगाल फौज के करीब एक लाख चालीस हजार सैनिकों में केवल बाइस हजार अंग्रेज सिपाही/अफसर थे। इन भारतीय फौजियों ने अंग्रेजों की रणनीति, उनके दोषों, कमजोरियों को नजदीक से देखा था। गाँवों और किसानों की दुर्दशा से वे परिचित थे। 18वीं सदी में विदेशी हमलों और अंग्रेजों के पसरते पाँव के प्रतिरोध में देशी शासकों के नेतृत्व में जो राष्ट्रीय भावना पैदा हुई थी, उसने 19वीं सदी के पहले भाग में जन-असन्तोष का रूप ग्रहण किया। देश के सभी हिस्सों में अंग्रेजी राज के विरुद्ध किसानों, आदिवासियों और कारीगरों के संघर्ष तीव्र हुए। इन संघर्षों का नेतृत्व साधारण लोगों के हाथ में था। इसकी सशक्त परिणति हुई 1857 की क्रान्ति में जिसका नेतृत्व किया बंगाल

सेना के सिपाहियों, बेदखल, छोटे स्तर के असन्तुष्ट राजाओं/जमींदारों, यूरोपीय गतिविधियों और अंग्रेजी शिक्षा से परिचित उनके सलाहकारों, संन्यासियों-फकीरों, उत्तर भारत के किसानों और ग्रामीण जनता ने। तत्कालीन अंग्रेज अफसरों की व्याख्याओं से प्रभावित अनेक इतिहासकारों का आज भी मानना है कि चर्बी के कारतूस के प्रयोग से नाराज सिपाहियों का यह 'गदर' था। इसके पीछे राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी। फिर से सामन्ती व्यवस्था वापस लाने के लिए इनके साथ बेदखल सामन्ती ताकतें भी जुड़ गई थीं। दूसरी ओर सावरकर ने इसे प्रायः एक सदी पहले स्वाधीनता का प्रथम संग्राम माना था।

इस महासंग्राम में पूरी बंगाल सेना के एक लाख से ऊपर भारतीय सिपाहियों, अम्बाला से पटना और नेपाल की तराई से नर्वदा तक की ग्रामीण और नगरीय जनता ने आत्म-बलिदान की भावना से भाग लिया था। इसमें करीब पचास लाख लोग मारे गए थे। साम्राज्य की अपनी पूरी ताकत से इसे दबाने में अंग्रेजों को दो साल से अधिक समय लग गया था। 1857 की राष्ट्रीय क्रान्ति का उद्देश्य इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि क्रान्तिकारियों के अखबार का नाम 'पयाम-ए-आजादी' था। वे आजादी की लड़ाई लड़ रहे थे। इस स्वाधीनता संग्राम की योजना में अजीमुल्ला, मोहम्मद अली खॉं और तातिया टोपे की प्रमुख भूमिका थी (टेलर : 1993)¹⁷।

अजीमुल्ला का पठान परिवार सरहदी सूबे का रहनेवाला था और कानपुर में बस गया था। 1837-38 के अकाल में पिता की मौत के बाद वह माँ के साथ ईसाई मिशन में रहा था। वह कानपुर के फ्री स्कूल का एक मेधावी छात्र था। उसका अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओं पर अधिकार था। उसकी प्रतिभा से प्रभावित होकर स्कूल के हेडमास्टर मि. पैटन ने उसको अपने स्कूल में टीचर नियुक्त कर लिया। वहाँ वह दस वर्ष तक पढ़ाता रहा था। वह कानपुर में सेना के प्रभारी ब्रिगेडियर स्कॉट और बाद में ब्रिगेडियर ऐशबर्नहम का भाषा टीचर भी रहा। इस तरह क्रान्ति के पहले से वह फौजी गतिविधि और उसके महत्त्व से परिचित था। उसकी प्रतिभा से नाना साहब पेशवा आकर्षित हुए और उसे अपना सेक्रेटरी और वकील नियुक्त कर लिया। अजीमुल्ला नाना साहब का प्रतिनिधि बनकर, उनकी पेंशन की अपील के साथ 1854 में इंग्लैण्ड गया। नाना साहब की अपील खारिज कर दी गई। उसका इंग्लैण्ड के उच्च समाज में गहरा सम्पर्क था। वहाँ पर उसकी मुलाकात सतारा के प्रतिनिधि रंगों जी बापू जी और मोहम्मद अली खॉं से हुई। लन्दन में ही तीनों ने मिलकर क्रान्ति की योजना बनाई। मार्च 1858 में लखनऊ में खुफियागिरी के आरोप में अंग्रेजों द्वारा फाँसी पर चढ़ाए जाने से पहले अपने बयान में मोहम्मद अली इस योजना का खुलासा करता है। वह एक बहुत ही पढ़ा-लिखा, अंग्रेजी और फ्रेंच पर समान अधिकार रखनेवाला, विदेश में बरसों रहा सच्चा देशभक्त था (टेलर : वही)¹⁸। लन्दन से मोहम्मद अली के साथ अजीमुल्ला पेरिस गया। उसने वहाँ एक प्रिंटिंग प्रेस खरीदकर

भारत भेजा जिस पर बाद में 'पयाम-ए-आजादी' छपता था। मोहम्मद अली अपने बयान में कहता है कि तुर्की होते हम लोग भारत लौटे। तुर्की में कुछ रूसी एजेण्टों ने वादा किया कि यदि भारत में क्रान्ति होती है तो वे हर तरह से मदद करेंगे। उन दोनों ने क्रीमिया के मोर्चे पर अंग्रेजों की पराजय और उनकी सेना की पतनशीलता देखी थी। तुर्की के होटल में उसकी 'टाइम्स' के युद्ध संवाददाता विलियम रसेल से भेंट हुई थी। रसेल पर उसके सुदर्शन व्यक्तित्व, अंग्रेजी और फ्रेंच पर अधिकार का सकारात्मक प्रभाव पड़ा था। उसने रसेल से कहा था कि मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि मजहब जैसी बातों में विश्वास करूँ। हिन्दुस्तान लौटकर उन्होंने पूरे देश में क्रान्ति की तैयारी के लिए लोगों से सम्पर्क किया।

इसका यह अर्थ नहीं कि 1857 की राष्ट्रीय क्रान्ति एक दो लोगों की साजिश का प्रतिफल मात्र थी। अपने समय के महान पत्रकार रसेल जो अनेक युद्ध मोर्चों पर उपस्थित थे, अपनी डायरी और 'टाइम्स' के लिए भेजी गई रपटों में कम्पनी सरकार और अंग्रेजों के प्रति व्यापक जन-असन्तोष की बार-बार चर्चा करते हैं।¹⁹ क्रान्ति के समय दिल्ली, कानपुर, लखनऊ में सिपाहियों ने अपनी परिषद बना रखी थी जो युद्ध और सुरक्षा के विषय में सामूहिक तौर पर निर्णय लेती थी। उनकी मजहब और जाति से ऊपर उठकर एक राष्ट्रीय सोच थी। विभिन्न राजा दिल्ली के लाल किले में स्थित केन्द्रीय सत्ता के अन्दर रहकर काम करेंगे, यह उनकी प्रमुख शर्त हुआ करती थी। इस क्रान्ति को नेतृत्व प्रदान करने में अजीमुल्ला, तातिया टोपे, रानी लक्ष्मीबाई, बेगम हजरत महल और कुँवर सिंह का ऐतिहासिक महत्त्व है। बहादुरशाह और नाना साहब तो प्रतीक मात्र थे। जॉर्ज फॉरेस्ट तातिया को योग्यतम राष्ट्रवादी नेता मानता है। सर ह्यूग रोज तातिया की महानतम उद्यमशीलता, पहल की क्षमता, टिकाऊ चारित्रिक संकल्प और सांगठनिक प्रतिभा की मुक्त कण्ठ से चर्चा करता है। आधुनिक ब्रिटिश इतिहासकार पेर्सी क्रॉस स्टैडिंग तातिया को विश्व के बहु प्रसिद्ध गुरिल्ला नेताओं की श्रेणी में रखता है।²⁰ जनरल स्मिथ रानी लक्ष्मीबाई को विद्रोही नेताओं में सर्वोत्तम और सबसे बहादुर मानता है। टेलर हजरत महल की सूझबूझ, प्रशासकीय क्षमता और आदमियों की परख के गुण की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। साहस, नेतृत्व की पहल और देश के लिए आत्म बलिदान की भावना से परिपूर्ण, कुँवर सिंह को छोड़कर, अन्य चारों नायकों का जन्म साधारण परिवारों में हुआ था।

राममोहन रॉय और अजीमुल्ला के बीच, जहाँ तक अंग्रेजी जानने, ईसाई मजहब से सम्पर्क, उच्चतम अंग्रेज अधिकारियों से सम्बन्ध, विदेश प्रवास, पश्चिमी दुनिया की गतिविधियों से परिचय, इंग्लैण्ड के उच्च वर्ग में उठने-बैठने का सवाल आदि में बड़ी समानता है। 1860 के पहले के भारत में कम्पनी सरकार के प्रति दृष्टिकोण एवं भारत की आजादी को लेकर वे दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का

प्रतिनिधित्व करते हैं। एक ओर उपनिषद के सूक्ष्म सूत्र और दूसरी ओर बेंथम-मिल के कोरे आदर्श के बीच राममोहन ईसाई मिशनरियों के तर्कों से प्रभावित समाज-सुधार की बात करते हैं। उनका संवाद मिशनरियों, कलकत्ता केन्द्रित धर्म सभा के अपने विरोधियों और अंग्रेज अधिकारियों तक सीमित था। उनके इस विश्वास का कि भारतीय अभी स्वशासन और स्वाधीनता के योग्य नहीं हैं, इसका उत्तर उस वर्ग के आराध्य मैकाले²¹ के इस कथन में निहित है कि यदि आदमियों को अपनी स्वतंत्रता के लिए गुलामी में रहकर तब तक इन्तजार करना पड़े जब तक वे अच्छे और बुद्धिमान न बन जाएँ तो ऐसे लोग निश्चय ही हमेशा गुलाम बने रहेंगे।

अजीमुल्ला ने अपने समय में विदेशी आधिपत्य से मुक्ति, उपनिवेशवाद की समाप्ति और आजादी का वैसा ही सपना देखा था जैसा जॉर्ज वाशिंगटन ने अमेरिका में और स्पेन की गुलामी से मुक्ति के लिए दक्षिण अमेरिका के मुक्ति संग्रामियों ने। वह मजहबी रूढ़ि के घरोंदे से बिलकुल मुक्त था। उसने व्यापक सम्पर्क, सतत संवाद से ऐसी रणनीति विकसित की जिसमें मजहब-जाति से ऊपर उठकर, एक समन्वित भारतीय राष्ट्रीयता से उत्प्रेरित बंगाल सेना के प्रशिक्षित भारतीय सैनिक और यातना के बोझ से दबे कोटि-कोटि ग्रामीण और नगरीय जन ताल ठोंककर विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध उठ खड़े हुए। विचार और कर्म के स्तर पर यह उस राष्ट्रीयता की पाशर्वभूमि थी जिसे ठीक पचास साल बाद 'वन्दे मातरम्' के सम्पादकीय में परिभाषित करते हुए अरविन्द ने लिखा कि दुनिया के सामने राष्ट्रवाद का जो विचार भारत रखना चाहता है उसमें सभी मनुष्यों, विभिन्न जातियों और वर्गों के बीच समानता होगी और वे सभी समान और संयुक्त रूप से एक राष्ट्र के अंग होंगे।²²

उन्नीसवीं सदी के नव-जागरण पर गहरे पुनर्विचार की आवश्यकता है। उपनिवेशवादी वैचारिक धारा से प्रभावित लोगों का मत है कि अंग्रेजी राज के कारण भारत में नए ज्ञान का आलोक फैला, आधुनिकता का संचार हुआ, पश्चिमी शिक्षा और नए उद्योगों का प्रसार हुआ। वे इस बात को भूल जाते हैं कि 18वीं सदी के अन्त तक भारत उत्पादन की पद्धति और प्रविधि में इंग्लैण्ड से आगे था। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति भारत से लूट की पूँजी के हस्तान्तरण का प्रतिफल थी। अमेरिकन समाजशास्त्री किंगस्ले डेविस का कहना है कि ब्रिटिश प्रशासन ने भारत में उद्योग धन्धों के विकास को अवरुद्ध किया।²³ उन्नीसवीं सदी के बंगाल में समाज सुधार के आन्दोलन की अगली कतार में भारतीय परम्परा और संस्कृत शिक्षा से जुड़े लोग थे। अंग्रेजी से रती मात्र सम्बन्ध के बिना इस काल में गालिब जैसा महाकवि पैदा होता है। वे लोग इस बात को भी भूल जाते हैं कि अपनी संस्कृति, परम्परा, भाषा, वेशभूषा को अक्षुण्ण रखकर जापान 1868 में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आरम्भ कर, 1905 तक एक महाशक्ति बन गया था जबकि 1947 तक अपनी 13 प्रश साक्षरता दर के

साथ भारत एक गुलाम देश बना रहता है। विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध संघर्ष, साम्राज्यवाद का विरोध, उपनिवेशवाद का खात्मा, आजादी की चाह यदि श्रेष्ठ मानवीय मूल्य हैं तो अजीमुल्ला, तातिया टोपे, मोहम्मद अली, रानी लक्ष्मीबाई 1860 के पूर्व की राष्ट्रीय धारा और नव-जागरण के प्रतीक हैं।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. लेखक द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर में 16 दिसम्बर, 1998 को हिन्दी विभाग द्वारा आयोजित 'विशेष भाषण माला' के अन्तर्गत आयोजित दो भाषणों और बरकतुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल के समाजशास्त्र विभाग द्वारा 13 सितम्बर, 2004 को आयोजित 'विशेष भाषण' का यह लेख संक्षिप्तकृत रूप है। दिल्ली विश्वविद्यालय में कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रख्यात आलोचक प्रो. नित्यानन्द तिवारी और भोपाल में जाने-माने विचारक डॉ. रमेशचन्द्र शाह ने की। भोपाल में आयोजन और संचालन विभागाध्यक्ष प्रो. गौतम विजयेन्द्र ने किया।
2. सिंह योगेन्द्र, मॉडर्नाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर। भारत में पश्चिमीकरण और समाज सुधार के लिए देखिए अध्याय-4।
3. व्यास के सी, द सोशल रेनेसाँ इन इण्डिया, वोरा एण्ड कम्पनी, बम्बई; भट्टाचारजी अरुण, ए हिस्टरी ऑफ मॉडर्न इण्डिया, आशीस पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
4. मिश्र बी बी, द इण्डियन मिडिल क्लास, ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई।
5. टैगोर सौमेन्द्र नाथ, राजा राममोहन रॉय, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
6. द सोशल एण्ड पॉलिटिकल आइडियाज ऑफ सम ग्रेट थिंक्स ऑफ रेनेसाँ एण्ड रिफॉर्मेशन, न्यूयार्क।
7. मुखर्जी राधाकमल, कल्चर एण्ड आर्ट ऑफ इण्डिया, 1959, लन्दन।
8. बिपनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, वरुण डे, स्वतंत्रता संग्राम, हिन्दी अनुवाद, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
9. भट्टाचारजी अरुण, वही।
10. देसाई ए आर, सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, पॉपुलर बुकडिपो, 1959, बम्बई।
11. टैगोर, वही।
12. टैगोर सौमेन्द्रनाथ, वही।
13. सेन सुकुमार, बंगला साहित्य का इतिहास, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली। बांग्ला लेखकों के सन्दर्भ इसी पुस्तक पर आधारित हैं।
14. धर्मपाल, कलेक्टेड वर्क्स ऑफ धर्मपाल, पाँच खण्ड। पिछले पाँच-छः वर्षों में सिद्ध, मसूरी द्वारा प्रकाशित 'हिमालय रैबार' में इस विषय पर इनके कई लेख छपे हैं जिनके सन्दर्भों का यहाँ उल्लेख हुआ है।
15. धर्मपाल, वही।

16. केनेडी पॉल, द राइज एण्ड फाल ऑफ ग्रेट पॉवर्स, 1983, न्यूयार्क।
17. टेलर पी. जे. ओ.; ए स्टार शैल फाल, हार्वर्ड कोलिंस इण्डिया, नई दिल्ली। टेलर की तीन अन्य पुस्तकें भी 1857 पर हैं। ये पुस्तकें अत्यन्त खोजपूर्ण हैं।
18. टेलर, वही।
19. रसेल विलियम, माइ इण्डियन म्युटिनी डायरी, 1860, लन्दन।
20. इंदुमती शेवरे, तात्या टोपे, नेशनल बुक ट्रस्ट, चतुर्थ पुनर्मुद्रण, 1998, नई दिल्ली।
21. इकॉनॉमिस्ट, ए न्यू कैपेन टु रिहैबिलिटेड मैकाले, 28 अक्टूबर, 2004।
22. दास मनोज, श्री अरविंदो, साहित्य अकादमी, चतुर्थ संस्करण, 1988, नई दिल्ली।
23. डेविस किंगस्ले, पॉपुलेशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, 1951, न्यू जर्सी।

पुस्तक समीक्षा

प्रकाशक अपने सद्यः प्रकाशित पुस्तकों की 2 प्रतियाँ 'चिन्तन-सृजन' में समीक्षा के लिए भेज सकते हैं।

प्रकाशक

चित्तोत्कर्ष और सृजन

मदनमोहन तरुण*

चित्तोत्कर्ष तीव्र सांवेगिक प्रक्रिया का प्रतिफलन है। यह भोक्ता को एक एक ऐसे मनोलोक में प्रक्षेपित कर देता है जो दैनिक जीवन की सीमाओं और बन्धनों से मुक्त एक ऐसी भावभूमि है, जहाँ उसे अपनी चरम-परम विभूतियों का साक्षात्कार होता है। यह सामान्य सुख-दुःख की तीव्रानुभूति से परे संवेदन-विस्तारजन्य करुणा एवं आनन्द की स्थिति है। इस मनोलोक में अवस्थित सर्जक ऐसी कृतियाँ प्रस्तुत करता है जो कालादि के बन्धनों से परे, मनुष्य को अपार प्रेरणा, अप्रतिहत जिजीविषा तथा आनन्द प्रदान करती है एवं उसे आत्मसंधान में सहायता मिलती है। इन पलों में मनुष्य ऐसे-ऐसे कार्य करने में समर्थ हो जाता है, जो वह सामान्य जीवन में सोच भी नहीं सकता। चित्तोत्कर्ष किसी अकल्पित सम्प्राप्ति, गहरी वेदना, कोई अप्रतिम संगीत सुर-लहरी, सौन्दर्यावलोकन, किसी असाधारण चुनौती या गहन अवधान से प्राप्त होता है। यह समाधि जैसी अवस्था है। उद्गीथ मनोचेतना का अन्यतम पल! विश्व भर के प्राचीन-नवीन विचारकों तथा शोधकर्ताओं ने विभिन्न माध्यमों से इसकी विशेषताओं को समझने का प्रयास किया है।

यह मैंने क्या कह डाला!

चित्तोत्कर्ष में आकस्मिकता एवं आवेगजन्य तीव्रता होती है। इस सम्बन्ध में वाल्मीकि के जीवन की एक घटना द्रष्टव्य है :

तमसा नदी के स्वच्छ तट एवं उसके चतुर्दिक व्याप्त हरीतिमा ने वाल्मीकि को मुग्ध कर दिया। उन्होंने अपने शिष्य को रुकने का आदेश दिया एवं स्वयं वहीं स्नानादि का निर्णय कर वे तमसा की विस्तृत जलराशि का अवलोकन करने लगे। प्रभात का आगमन हो चुका था और भुवनभाष्कर की मुस्कान से तमसा गुलाबी-गुलाबी हो रही थी। मन्द, शीतल समीर के स्पर्श से उसकी काया तरंगित थी। वृक्ष-लतादि भी धीरे-धीरे झूम रहे थे। उन्हीं पलों में क्रौंच पक्षी का एक जोड़ा अपने पंख फड़काता

*डॉ. मदनमोहन तरुण, पूर्व आचार्य एवं संकायाध्यक्ष, लाल बहादुर शास्त्री एकेडेमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, पूर्व वरिष्ठ अकादमिक अधिकारी, नेशनल डिफेन्स एकेडेमी, पूणे।

पास ही धीरे से उतरा। दोनों युवा थे। उनके पंख चमकीले थे। क्रौंच के मस्तक का रंग ताप्रवर्णी था। क्रौंच ने क्रौंची का अपनी चोंच से मृदुल स्पर्श किया। क्रौंची चंचल हो उठी। दोनों थोड़ी ही देर में मिथुनरत हो आनन्द के चरम पलों में प्रविष्ट हो गए। वाल्मीकि इस पूरे उपक्रम को मुग्ध भाव से निहार रहे थे। उन पलों में वे तमसा, उसकी निर्मल जलराशि, हवा के झोंकों में झूमते वृक्ष, लतादि, सबको भूल गए। तभी, आनन्द के इन परम मुग्ध पलों में एक हृदय-विदारक चीत्कार ने वाल्मीकि का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। उन्होंने देखा अभी-अभी मिथुनरत क्रौंच वाणविद्ध और रक्त से लथपथ पास ही गिरा छटपटा रहा है। सामने से उन्होंने धनुष लिए व्याध को आगे बढ़ते देखा। वाल्मीकि के हृदय में क्रौंची का आर्तनाद प्रतिध्वनित हो उठा और व्याध के प्रति उनका मन विक्षोभ से भर उठा। इन्हीं पलों में वाल्मीकि के मुख से व्याध के प्रति तीव्र आवेग भरी वाणी तीर-सी छूट पड़ी

मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वती समाः।

यत क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितमा।¹

(ऐ निषाद! तुझे जीवन भर शान्ति न मिले क्योंकि तुमने निरपराध काममोहित क्रौंच के जोड़े में से एक की हत्या कर दी।)

परम विकलचित्त अपने गुरुदेव वाल्मीकि की यह वाणी सुनकर उनका शिष्य भरद्वाज स्तम्भित रह गया। यह कैसी वाणी सुनी उसने! स्वयं वाल्मीकि भी अपनी वाणी के सर्वथा नए अवतार को पहचान नहीं सके 'किमिदं व्याहृता मया!' ² यह मैंने शोकार्त होकर क्या कह डाला! जो मैंने कहा वह चार चरणों में निबद्ध है। इसके प्रत्येक चरण में बराबर-बराबर अक्षर हैं। यह लय समन्वित और गेय है! यह तो श्लोक है!³

यहाँ एक साथ कई स्थितियाँ हैं—क्रौंच-क्रौंची काम-मोहित हैं, वाल्मीकि मुग्धभाव से उनके क्रिया-कलाप निहार रहे हैं, तभी मिथुनरत क्रौंच वग्ण-विद्ध होकर गिर जाता है, क्रौंची चीत्कार कर उठती है और उस चीत्कार की प्रतिक्रिया में व्याध के प्रति वाण-सी कवि की वाणी आवेगपूर्वक छन्दोबद्ध रूप में अभिशाप बनकर फूट पड़ती है। सब कुछ एक साथ और आकस्मिक रूप से घटित हो जाता है। यहाँ स्थिति और उसके प्रति प्रतिक्रिया, दोनों ही आसधारण हैं। इस पल जीवनानन्द का चरम क्षण और दूसरे ही पल मरणजन्य आर्तनाद और उसी पल तीसरे पक्ष की तीव्र सांवेगिक प्रतिक्रिया। इन समस्त परस्पर विरोधी तत्त्वों को सूत्रबद्ध कर रहा है अति संवेदनशीलता का घनत्वपूर्ण आवेग।

आई. ए. रिचार्ड्स इसे 'असाधारण लोगों की उस उच्चतम मनःस्थिति की अभिव्यक्ति मानते हैं, जब चित्त सांसारिक क्षुद्रताओं से ऊपर उठ जाता है।'⁴ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस भावदशा को 'भावयोग की सबसे ऊँची कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य

का जगत के साथ तादात्म्य' कहते हैं, जिसमें वे 'उसकी अश्रुधारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास' मानते हैं।⁵ लौजइनस इस पल को 'सूक्ष्म उन्माद समन्वित एवं दैवी प्रेरणा से परिचालित आकृत्रिम भावावेग का विस्फोट घोषित करते हैं।'⁶

वाल्मीकि का अपनी ही उक्ति से विस्मित होकर यह पूछना कि यह मैंने क्या कर दिया, दैनिक जीवन की स्वाभाविक प्रतिक्रिया नहीं है। इसमें कुछ बोले जाने का कारण, विवेक या तर्क नहीं है। वध एक क्राँच पक्षी का हुआ है, जो व्याध का खाद्य पदार्थ है। वाल्मीकि का उस पूरे परिक्रम से कुछ भी लेना देना नहीं है। वाल्मीकि कोई न्यायाधीश नहीं कि वे व्याध को प्रतिष्ठा-वंचित कर दें। सामान्य स्थितियों में वाल्मीकि के व्यवहार को पागलपन ही कहा जाएगा। चित्त के उत्कर्ष की दिशा में ही हनुमान ने समुद्र की छलांग लगा दी।⁷ यह भी नहीं सोचा कि बीच में यदि गिर गए तो क्या होगा? इसी मनोत्कर्ष की दशा में अंगद ने रावण की सभा में अपने पाँव आरोपित कर घोषणा कर दी 'अगर इसे हिला दे तो मैं सीता को हार जाऊँगा और राम की सेना लौट जाएगी।'⁸ एक हरकारे की यह मजाल कि वह इतनी बड़ी घोषणा कर दे! सीता को हारने का यह अधिकार उसे किसने दिया? किन्तु, चित्त के इस उत्कर्ष की अवस्था का आकलन दैनिक जीवन के प्रतिमानों से नहीं किया जा सकता। चित्तोत्कर्ष की स्थिति में मनुष्य अपने स्वत्व का वह विराट सृष्टिमय रूप देख लेता है जिसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं होता। कोई सर्जक ऐसी ही भावदशा में हनुमान और अंगद जैसे पात्र गढ़ सकने में सक्षम होता है। चित्तोत्कर्ष की इसी अवस्था में राम ने वानरों और भालुओं की सहायता से समुद्र में पुल बना दिया और रावण जैसी महाशक्ति को पराजित कर अपनी पत्नी सीता को मुक्त किया। निरस्त्र गाँधी ने अपने समय की सबसे बड़ी ताकत को उसकी सीमाएँ बता दीं और उसे अपने देश से बाहर खदेड़ दिया। जब नेपोलियन कहता है There is no Alps कि आल्प्स नहीं हैं तो यह किसी साधारण मनोदशा में नहीं कहता!

प्राप्य में अपनी सत्ता का विलयन

इस मनोदशा की प्राप्ति अवधान के एकाग्रीभूत घनत्व से सम्भव होता है। अपनी लम्बी कविता 'असाध्य वीणा' में अज्ञेय ने चित्तोत्कर्ष की इस चरम भावदशा, उसकी चरम परिणति और प्रक्रिया का गहरा विश्लेषण किया है। यह वीणा तब तक असाध्य रहती है, जब तक वह वाद्ययंत्र अपनी समस्त विभूतियों के साथ समाधिस्थ साधक के चित्त में स्वयं को व्यक्त न कर दे और वादक तथा वाद्य का द्वित्व समाप्त न हो जाए। यह वीणा तब तक असाध्य है जब तक वादक उस वृक्ष का अपनी समग्रता में वह साक्षात्कार न कर ले जिससे उस वाद्ययंत्र का निर्माण हुआ है। यहाँ

वृक्ष का तात्पर्य पूर्ण परिवेश समन्वित वृक्ष है जिसमें पक्षी, कलरव, मौसम आदि सब कुछ है। वज्रकीर्ति ने इस असाधारण वीणा का निर्माण आजीवन साधनापूर्वक उस किरीटी तरु से किया था, जिसकी जड़ें पाताललोक तक पहुँच गई थीं। इस वीणा को बजाने में अबतक सभी वादक असफल रहे। जब प्रियंवद केशकम्बली आए तब उन्होंने विनम्र भाव से इस वीणा को अपनी गोद में रख लिया। फिर, धीरे-धीरे उस पर अपना मस्तक रख दिया। लोगों ने समझा केशकम्बली ने भी हार मान ली और वह भी थोड़ी देर में अन्य वादकों की भाँति लौट जाएगा। परन्तु नहीं, वह तो झुककर स्वयं को साध रहा था। वीणा के स्पर्श से वह उस समस्त तरु का साक्षात्कार कर रहा था, जिससे वह बनी थी—'ओ विशाल तरु। / शत-सहस्र पल्लवन-पतझारों ने जिसका रूप सँवारा, / कितनी बरसातों कितने खद्योतों ने आरती उतारी, / दिन, भौर कर गए गुंजरित, / रात में झिल्ली ने / अनथक मंगल गान सुनाए / साँझ-सबेरे अनगिन / अनचीहे खग कुल की मोद-भरी क्रीड़ा-काकलि। / डाली-डाली काँप गई।'⁹ एक समग्र, सम्पूर्ण वृक्ष को अपने भावलोक में उतार कर केशकम्बली ने अतिशय विनम्रतापूर्वक उस वीणा को 'तात, सखा, गुरु, आश्रय, त्राता' के रूप में सम्बोधित किया एवं 'व्याकुल मुखरित वनध्वनियों के वृन्दगान' को मूर्त रूप में स्मरण कर उससे प्रार्थना की कि स्वयं वह महावृक्ष तरल होकर इस वीणा में प्रवाहित हो जाए और वादक केशकम्बली मात्र उसका स्रोत, दर्शक और ध्याता भर रह जाए। केशकम्बली को लगा वह एक शिशु-सा वीणा की गोद में बैठा है। उसके स्वरों में वृक्ष के साथ स्वयं उसका वह परिवेश भी गुंजित हो गया, जिसकी वह देन था। 'हरी तलहटी में पेड़ों की ओट / ताल पर / बँधे समय वन-पशुओं की नानाविध आतुर पुकारें :/' तथा गर्जन, घुर्घर, भूँक, चिचिआहट के साथ ही 'किरण भोर की पहली / जब तकती है ओसबून्द...।' के नादमय संसृति के रसप्लावन में जब उसका सारा वैविध्य-बोध समाप्त हो गया और तब 'अवतरित हुआ संगीत / स्वयम्भू / जिसमें सोता है अखण्ड / ब्रह्मा का मौन / अशेष प्रभामय, '¹⁰ इस संगीत को सबने अलग-अलग स्तरों पर ग्रहण किया। राजा ने, रानी ने, जन सामान्य ने। किसी को वह प्रभुओं का कृपा वाक्य लगा, किसी को इसमें अन्न की सोंधी गंध मिली, किसी को शिशु की किलकारी, किसी को हथौड़े की लय भरी चोट, किसी को कटी मेड़ की छुल छुल, किसी को युद्ध का ढोल, किसी को प्रलय का डमरू-नाद और किसी को जीवन की पहली अँगड़ाई लगी।

इस लम्बे उद्धरण का एक मात्र लक्ष्य है उत्स की प्राप्ति की उस प्रक्रिया को स्पष्ट करना जिसमें विराट अपने पूरे वैभव के साथ साधक की आत्मा की प्रतिध्वनि बनकर गुँज उठता है। यह अदृश्य की मुस्कान है, जिसके तरंगित रोमहर्ष की भाषा वह शाब्दिकता नहीं होती जिसके 'अर्थ' सुनिश्चित हैं। वे लोग इस वीणा को नहीं साध सके जिन्होंने उसे उतना ही समझा, जितना वह दिखाई पड़ रही थी। निराला

इसी स्थिति को अपनी लम्बी कविता 'तुलसीदास' में इन शब्दों में रखते हैं। यह वह प्रसंग है जब तुलसी दास ने रत्नावली की सीमित काया में स्वयं सरस्वती की विश्वव्यापी विराट छवि का साक्षात्कार किया जिसने स्वयं उनका पूर्णतः रूपान्तरण कर दिया

देखा, शारदा नीलवसना,
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टिरशना,
जीवन-समीरशुचि-निःस्वसना, वरदात्री,
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटी तर अमृताक्षरनिर्झर,
यह विश्व हंस, हैं चरण सुघर जिस पर श्री।¹¹

चरम पल के अनुभव

शिकागो विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक मिहाली (Mihaly Csikszentmihalyi) ने विविध क्षेत्रीय उच्चतम प्रदर्शन के अनेक उदाहरण इकट्ठे किए एवं जानना चाहा कि चित्तोत्कर्ष की स्थिति में लोगों ने कैसा अनुभव किया और उनके कार्य किस प्रकार सम्पन्न हुए। एक लेखक (नाम नहीं दिया गया है) ने अपने सृजनात्मक पलों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें बताया "जब मैं समाधि की अवस्था में एक ऐसे बिन्दु पर आ जाता हूँ, जहाँ अपनी सत्ता का बोध लुप्त हो जाता है, उस स्थिति में अनुभव होता है कि मेरे हाथ मेरे नहीं रहे, न इस अवस्था पर मेरा नियंत्रण ही है। तब मैं मात्र एक दर्शक की भूमिका में होता हूँ। विस्मृत और श्रद्धापूर्ण स्थिति में! तथा मेरा सृजनकार्य अनायास आकार लेने लगता है।"¹²

कई खेलाड़ियों ने भी अपने प्रदर्शन के चरम क्षणों में अपने को प्रयासविहीनता की स्थिति में अनुभव किया तथा उन अति उत्साह के आनन्दपूर्ण क्षणों में चारों ओर से उत्साहित दर्शकों की तालियाँ बजाती भीड़ तथा अन्य प्रतिस्पर्धी आदि सभी का बोध समाप्त हो गया। वे होश में तब आए जब वे प्रतियोगिता जीत चुके थे। 1994 की शीतकालीन ओलम्पिक में स्कीइंग की दौड़ में सर्वोत्कृष्ट प्रदर्शन करनेवाली डियाने रौफी स्टेनरोटर (Diane Roffe Steinrotter) ने उन चरम क्षणों को याद करते हुए बताया, "मैं एक निश्चिन्तता की स्थिति में आ गई। मुझे लगा मैं एक बहता हुआ निर्झर हूँ।"¹³ डैनियल गोलेमैन (Daniel Goleman) इस मनोदशा को 'फ्लो' (flow), प्रवाह कहते हैं।¹⁴ उनके अनुसार यह ध्यानमग्नता या चिन्ता के विपरीत आत्मविस्मरण की अवस्था है। किन्तु, इस स्थिति की एक विशेषता यह है कि 'फ्लो' की दशा में लोग अपने हस्तगत कार्य में इतने लीन हो जाते हैं कि वे आत्मविस्मृत हो जाते हैं। उन्हें सामान्य चीजों, जैसे स्वास्थ्य, हिसाब-किताब, दैनिक जीवन की आवश्यकताएँ,

यहाँ तक कि आत्मकल्याण विषयक आवश्यकताओं की भी स्मृति नहीं रह जाती। इस मनोदशा का सबसे विरोधाभासपूर्ण पक्ष यह है कि वे जिस कार्य में दत्तचित रहते हैं उस पर उनका तब भी पूर्ण नियंत्रण रहता है, बल्कि वे उस दशा में अपनी क्षमता का सर्वोत्तम प्रदर्शन कर रहे होते हैं। वे इस तथ्य से भी पूर्णतः अवगत रहते हैं कि बदली परिस्थितियों में उनके उस विषय की नई माँग क्या है, जिस पर वे कार्य कर रहे होते हैं। वे उस अवस्था में अपनी सफलता-असफलता के भावों से पूर्णतः मुक्त होकर उस कार्य का असाधारण आनन्द उठा रहे होते हैं।

सृजनात्मकता और पागलपन

कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि सर्जक और मनोरोगी की चिन्तन प्रक्रिया में समानता होती है। हार्वर्ड मनोचिकित्सा विभाग के प्रोफेसर अल्बर्ट रोथेनबर्ग (Albert Rothenberg) ने इस विषय पर अपने 25 वर्षों के अध्ययन के पश्चात यह घोषित किया, "मैं एक बार इस तथ्यपूर्ण निष्कर्ष से स्तब्ध रह गया कि अनेक असाधारण रूप से प्रतिभाशाली लोग मनोरोग ग्रस्त थे।"¹⁵ रोथेनबर्ग प्राप्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रतिभाशाली लोगों के चिन्तन में परातार्किकता होती है। यह एक ओर जहाँ प्रमादग्रस्तता का लक्षण है, वहीं दूसरी ओर उच्चकोटि की सर्जनात्मकता का भी।¹⁶ के. जेनिसन (K. Janison) सृजनात्मकता और पागलपन में समस्रोतीय समानता पाती हैं। उनके अनुसार "बेचैनी, आडम्बर, चिड़चिड़ापन, स्नायविक उत्तेजकता, वैचारिक तीव्रता तथा भावप्राबल्य चिन्तक और पागल दोनों के समान लक्षण हैं।"¹⁷ माउरीन नेहर्ट ने 'Eminent creative people with probable mood disorder' के अन्तर्गत बयालीस ऐसे सुविख्यात लेखकों के नाम दिए हैं, जिनमें लिओ टालस्टाय, टी. एस. एलियट, एफ. स्कॉट फिट्जरेल्ड, अर्नेस्ट हेमिंग्वे जैसे लोग शामिल हैं, जो मनोरोग के लक्षणों से ग्रस्त थे।¹⁸ इस सम्बन्ध में अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध लेखक एडगर एलेन पो की टिप्पणी द्रष्टव्य है "लोग मुझे पागल कहते हैं। परन्तु, इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना अभी शेष है कि उत्कर्षित मस्तिष्क पागलपन है या नहीं? क्या जो भव्य है, निगूढ़ है, वह अस्वस्थ मस्तिष्क की देन है? या यह सामान्य मस्तिष्क से अतिक्रमित होने पर सम्पन्न होता है? जो लोग मात्र रात्रि काल में ही स्वप्न देखते हैं, उनसे बहुत-सी ऐसी चीजें छूट जाती हैं जो दिवास्वप्नदर्शी देखते हैं। अपनी दृष्टि की कुहाच्छन्नता में उन्हें अनन्त की छवि का दर्शन होता है। वे प्रकाश के विशाल सागर में बिना पतवार तथा दिशादर्शक के ही अपना मार्ग सरलता से ढूँढ़ लेते हैं।"¹⁹

क्या चित्तोत्कर्ष के पलों की पुनरावृत्ति सम्भव है?

उत्तर है नहीं। चित्तोत्कर्ष एक तीव्र सांवेगिक परिणति है। यह जितनी तीव्रता से आता है उतनी ही तीव्रता से विसर्जित भी हो जाता है। अतः चित्तोत्कर्ष का

पूर्वप्राप्त धरातल या उसके चरम क्षण का तद्गत अनुवर्तन सम्भव नहीं। देवता कभी-कभी ही अपनी मूर्ति में विश्राम करते हैं, कभी-कभी ही पत्थर को चीर कर मूर्तिकार उसमें से अपने मनोलोक की मूर्तियों को खींच कर बाहर निकाल पाता है। कभी-कभी ही लेखनी ऐसे अन्यतम सृजन का अवसर पाती है जो अंधेरो को सदा के लिए आलोकित कर दे। इस सम्बन्ध में 'महाभारत' का एक प्रसंग द्रष्टव्य है महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। जो इस युद्ध में जीवित बच गए थे, वे भी ससम्मान अपने घर लौट चुके थे। थोड़े से निकटस्थ कुटुम्बी जो पाण्डवों के प्रेम में कुछ दिन और रुक गए थे, वे भी लौटने की तैयारी कर रहे थे। कृष्ण भी एकाध दिन में द्वारका जानेवाले थे। एक दिन अन्य कुटुम्बियों की उपस्थिति में अर्जुन ने कृष्ण से कहा, "मित्रवर! युद्ध के पूर्व आपने अपना दर्शन कराते हुए मुझे अपूर्व ज्ञान प्रदान किया था, किन्तु युद्धकार्य की उलझनों में मैं अस्थिरचित्त होने के कारण उस ज्ञान का बहुत कुछ भूल गया हूँ। यदि आप फिर से वही ज्ञान (गीता का) प्रदान करें तो वह हमारे लिए बहुत ही कल्याणकारी होगा।" यह सुनकर कृष्ण ने अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में कहा कि अब यह सम्भव नहीं है। "गीता में मैंने तुम्हें भी ज्ञान-दर्शन दिया था, वह योग के शीर्ष पर अवस्थित चित्त से दिया था। अब मैं उन पलों को यथावत पुनर्संजित नहीं कर सकता। हाँ, उसकी व्याख्या (इतिहास) भर हो सकती है।"²⁰

कृष्ण के इस नकारात्मक उत्तर का कारण क्या है? कृष्ण के लिए उस पल को पुनरुज्जीवित करना सम्भव क्यों नहीं है? इसके कई कारण हैं। इस पल में कृष्ण के सामने कोई प्रबल चुनौती नहीं है कि वे महाभारत के गीतोपदेश के उत्कर्षपूर्ण पल को पुनरुज्जीवित कर सकें। हमारे चुनौतीपूर्ण क्षणों में चित्तोत्कर्ष या अकल्पनीय शक्ति जाग्रत कर देने की क्षमता होती है। महाभारत का वह पल अकल्पितपूर्व और बहुत ही असाधारण था। पाण्डव पक्ष के महान योद्धा अर्जुन के मन में युद्ध के प्रति वैराग्य उस समय जाग्रत हो गया, जब कौरवों की सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी थी। कृष्ण उसके सारथी ही नहीं, शुभेच्छु भी थे। वे अर्जुन को जीवन-मृत्यु विषयक सारे उपदेश देकर थक चुके थे। ऐसे में अर्जुन को क्षात्रधर्म की मनोभूमि में वापस लाने के लिए किसी अधिक प्रबल सम्बोधन की आवश्यकता थी, जिसका परिणाम था वह महान यौगिक पल जिसने अर्जुन को भी उसी मनोभूमि पर पहुँचा दिया जहाँ से कृष्ण उसकी अंतःसंज्ञा को सम्बोधित कर रहे थे। यही कारण है कि जब कृष्ण ने कहा 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शत शोऽथ सहस्रशः'²¹ तब अर्जुन ने भी अविलम्ब कहा 'पश्यामि देवंस्तव देव देहे...'²² कृष्ण कहते हैं 'देख' तो अर्जुन कहता है 'देख रहा हूँ। आज वह अपरिहार्य कारण नहीं है। परिस्थितियाँ बदलती हुई हैं। युद्ध समाप्त हो चुका है। योद्धा जा चुके हैं। युद्ध की निरर्थकता का बोध कहीं-न-कहीं हर किसी में है, अतः कृष्ण आज यही कह सकते हैं ' न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ।'

गगन गरजै बरषै अमी,
बादल गहर गंभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी,
भीजै दास कबीर।²³

ये पंक्तियाँ जुलाहा कबीर के बूते के बाहर की चीज हैं, इसके लिए उसे पुनः कबीरत्व पाना होगा।

भाषा

सांवेगिक गहन क्षणों में प्रसूत ऐसी कृतियों की भाषा भी अन्य कृतियों से भिन्न होती है। यह स्रष्टा के सामान्य दैनिक जीवन से मुक्ति का; आत्मस्मृति का; मोक्ष का; अहं-शून्यता का या आत्मविस्तार का अप्रतिम क्षण होता है। इस पल में वह बहुत कुछ ऐसा देखता या सुनता है जो उसका प्रथम अनुभव होता है, अतः उसकी भाषा यहाँ अर्थ प्रधान नहीं, बिम्ब प्रधान और ध्वन्यात्मक होती है। यह पल तीव्रतापूर्वक शून्य में विगलित होती हुई उन छव्याकृतियों का होता है जो कहीं पूर्ण, कहीं बनती-बनती टूटती हुई या वाष्पीभूत होती दिखाई देती हैं। हमारे दैनिक जीवन की भाषा परिचित वस्तुओं और ध्वनियों का मूर्तन करती है जबकि इन पलों में भाषा की चुनौती अपरिचित के मूर्तन की है। यहाँ तर्कसंगत और शब्दार्थयुक्त भाषा बेकार हो जाती है।

रामधारी सिंह दिनकर इस स्थिति को इस प्रकार देते हैं, "जिस संकट का सामना रहस्यवादी करता है, लगभग वैसे ही संकट का सामना बड़े कवियों को करना पड़ता है। संभव है ऐसे अवसर जीवन में एक दो बार ही आएँ, मगर कवि की मनोदशा ऐसी होती है, जब उसे विचारों की सामान्य भूमि से बाहर निकल कर ऐसी प्रेरणा का साक्षात्कार करना पड़ता है, जो सृष्टि के मूल से उठकर आती है, और प्रचलित भाषा में अभिव्यक्त होने से इनकार करती हो।"²⁴ चित्तोत्कर्ष की इस उदग्र भावदशा में भाषा स्वयं आकार लेती चली जाती है।

सन्दर्भ

1. वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड 2/5
2. उपरिवत 6
3. उपरिवत 8
4. I. A. Richards, Principles of Literary Criticism- p. 12
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रस-मीमांसा, पृष्ठ 19-20
6. Longinus, On The Sublime, VIII
7. तुलसीदास, रामचरितमानस, किष्किन्धा काण्ड (सिंहनाद करि बारहिवारा। लीलहि लौंघउँ जलनिधि खारा।)

8. उपरिवत, लंकाकाण्ड (जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता में हारी।)
9. आज के लोकप्रिय कवि : अज्ञेय (सम्पादक-विद्यानिवास मिश्र) असाध्य वीणा पृष्ठ 116
10. उपरिवत
11. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', तुलसीदास पृष्ठ 46
12. Mihaly Csikszentmihlyi, Play and Intrinsic Rewards—Journal of Humanistic Psychology 15, 3 (1975). Daniel Goleman की Emotional Intelligence से उद्धृत, पृष्ठ-102
13. उपरिवत
14. उपरिवत 103
15. Psychosis 6
16. उपरिवत 12
17. Creativity, The Arts and Madness, Maureen Neihart, Source—Paper Review-1998, 21 से उद्धृत
18. उपरिवत
19. उपरिवत
20. महाभारत/आश्वमेधिकपर्व 12-13
(स हि धर्म सुपर्याप्तो ब्रह्मजा पदवेदने। न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया। इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्॥)
21. महाभारत। भीष्मपर्व, श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 11/5
22. उपरिवत 15
23. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर पृष्ठ 212
24. रामधारी सिंह दिनकर, शुद्ध कविता की खोज पृष्ठ 124

¹ तारुण्यम, 7-8 लक्ष्मण अपार्टमेंट, मुकाई नगर, सिंहगढ़ रोड, खडकवासला, पुणे-411024

सम्पादन-कला के मर्मज्ञ : आचार्य शिवपूजन सहाय

श्रीरंजन सूरिदेव*

कहते हैं, 'कालो न यातो वयमेव याताः', अर्थात् काल नष्ट नहीं होता, वरन् हम संसारी ही नष्ट हो जाते हैं। परन्तु सारस्वतपुरुष आचार्य शिवपूजन सहाय के लिए यह बात उल्टी हैकाल नष्ट हो जाएगा, लेकिन आचार्य जी अनश्वर रहेंगे। आचार्य शिवजी आध्यात्मिक दृष्टि से अशोच्य थे, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनका जाना बड़ा अखरता है और ज्यों-ज्यों समय बीतेगा, उनका अभाव अधिकाधिक अखरेगा।

आज हिन्दी अपनी मूल प्रकृति का परित्याग कर अंग्रेजी साँचे में ढलती चली जा रही है। उसकी मूल प्रवृत्ति अंग्रेजियत से आक्रान्त होती जा रही है। किन्तु, आचार्य शिवजी ऐसे हिन्दी के स्वनामधन्य लेखक थे, जिसमें उसका अपना भारतीय संस्कार सोलहों कलाओं के साथ दिपता-दमकता दिखता है। पं. बालकृष्ण भट्ट, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और महाप्राण निराला की गद्य शैली के प्राग्भारतीय संस्कार का पुष्ट परिनिर्वाह एकाकी आचार्य शिवजी ही करते थे। सही मानी में वह विचक्षण गद्यकार थे, विलक्षण शैलीकार थे।

हिन्दी-जगत् में आचार्य शिवजी का व्यक्तित्व कई रूपों में निखरा थावह श्रेष्ठतम सम्पादक थे, सम्पादन-कला की सगी पूफरीडिंग-कला के अद्वितीय मर्मज्ञ थे, भाषा के अपूर्व शिल्पी थे, साधक थे, सिद्ध थे, महामानव और देवात्मा थे। किन्तु, भाषा-परिमार्जक का व्यक्तित्व उनके उक्त सभी व्यक्तित्वों से बढ़-चढ़कर था। सचमुच, भाषा-परिमार्जक के रूप में उनका व्यक्तित्व 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' था। भाषा के परिमार्जित और परिनिष्ठित प्रयोक्ता होने के कारण ही हिन्दी-सेवी संसार उनका एक महान् सम्पादक के रूप में वन्दन-अभिनन्दन करता था, अब भी करता है। जरा हल्के तौर पर हम कहें कि उनकी सारी जिन्दगी खलिहान साफ करने में ही बीत गई। व्यष्टि की दृष्टि से इसका परिणाम तो बड़ा दुःखावह हुआ कि वे स्वयं अधन बने रहे किन्तु सुख भी है कि हिन्दी सधन और सम्पन्न बन गई। उनके इस रूप के लिए यह शिवस्तुति कितनी सटीक है

विश्वभर्ताऽपि यो भिक्षुः भूतावासोऽनिकेतनः।

विश्वगोप्ताऽपि दिग्वासाः तस्मै कस्मै नमोनमः॥

* साहित्य वाचस्पति डॉ. श्री रंजन सूरिदेव, पूर्व सम्पादक, परिषद पत्रिका, पटना।

अर्थात्, जिसने विश्व का भरण-पोषण किया, वह स्वयं भिखारी ही बना रह गया, जिसने समस्त प्राणियों के लिए आवास की व्यवस्था की, वह स्वयं गृहविहीन बना रहा और जिसने दुनिया के लिए तन ढकने का प्रबन्ध किया, वह स्वयं दिगम्बर रह गया, ऐसे उस देवात्मा को बार-बार नमस्कार।

सचमुच, आचार्य शिवजी की लेखन-सिद्धि बहुत बड़ी थी। कागज के पन्नों पर उनकी ललित लेखनी जब चलती थी, तब बहुत सोच-समझकर। उनकी वह लेखनी उन्माद या भयग्रस्त होना नहीं जानती थी और न राह चलते कभी दुर्घटनाग्रस्त ही होती थी। लगता था, जैसे कोई जैन भिक्षुणी जीवहिंसा से बचने के लिए फूँक-फूँककर कदम रख रही हो, जिसके जीवन का उद्देश्य केवल सर्वजनहिताय है, परोपकाराय है। उनकी वह लेखनी क्रान्तदर्शिता या दूरदर्शिता से काम लेती थी और जब चलती, अपने परिणाम की उत्तमता कभी न भूलती। उनकी वह लेखनी उनके अन्तिम क्षण तक उनकी अँगुलियों में अविश्रान्त बनी रही। न वह कभी थकी, न रुकी और न कभी झुकी। आज भी, उनकी दिव्य अँगुलियों में बँधी, मोती उगलती लेखनी हिन्दी को जब याद आती होगी, तब उसका कलेजा कचोटता होगा और मन बेमन बनकर अधीर हो उठता होगा।

आचार्य शिवजी सही मानी में सम्पादकाचार्य थे। सम्पादन-कार्य कितना गहन होता है, यह उनके तद्विषयक परिश्रम से पता चलता है। वह बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शोधसमीक्षाप्रधान त्रैमासिक मुखपत्र 'साहित्य' के प्रधान सम्पादक थे। सौभाग्य से 'साहित्य' का सहकारी होने के नाते मुझे उनके सम्पादन-अनुष्ठान की प्रणाली को निकट से देखने का अलभ्य अवसर सुलभ हुआ था। उनके सम्पादन-कौशल का ही परिणाम था कि सामान्य लेख भी विशिष्ट बन जाता था उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिनों 'बिहार की महिलाएँ' (श्री राजेन्द्र-अभिनन्दन ग्रन्थ) का आदर्श सम्पादन किया। यह उनकी अन्तिम सम्पादित कृति है। 'बिहार की महिलाएँ' की सम्पादित पाण्डुलिपि की पंक्ति-पंक्ति यह उद्घोष करती है कि उन्होंने इस कार्य में किस प्रकार अपने शरीर को होम दिया था। मेरा दृढ़ मत है कि सम्पादन-कार्य में इस प्रकार का श्रम करनेवाला सम्पादक अब हिन्दी-जगत् के लिए असुलभ ही रहेगा।

आचार्य शिवजी कहते थे कि सम्पादक को बहुश्रुत होना आवश्यक है, साथ ही उसे मधुकरी वृत्ति या सरघा-वृत्ति से भी काम लेने की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न फूलों से रस लेकर अपने मधुचक्र में एकत्र करती है और वही रस प्रकृतिगत रासायनिक प्रक्रिया से सर्वहितकारी मधुरूप रसायन में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार सम्पादक विभिन्न सारस्वत स्रोतों से विचारों का समाहरण करके उन्हें अपनी टिप्पणी में गुम्फित करता है, जो सार्वभौम स्तर पर उसकी मौलिक अभिव्यक्ति के रूप में जन-समादृत होती है।

सम्पादक के विचार प्रायः लोकविदित और सर्वज्ञात होते हैं, पर वे ही विचार जब सम्पादक की तपःपूत एवं प्रज्ञाप्रौढ़ लेखनी से टिप्पणी या अग्रलेख के रूप में अक्षरित होते हैं, तब कुछ और ही हो जाते हैं, जिनसे पाठकों को नई दिशा में अभियान करने की क्रान्तिकारी दृष्टि प्राप्त होती है और उन्हें ज्ञान के नए आयाम उपलब्ध होते हैं। कहना न होगा कि सम्पादकीय मन्तव्य की पूर्ण सफलता तभी मानी जाएगी, जब वह सुषुप्त लोक-जीवन में संजीवनी का संचार करनेवाली वैचारिक आग्नेयता की सृष्टि करने में समर्थ होगा।

आचार्य शिवजी अपनी सम्पादन-कला के प्रेरणा-प्रतीक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को मानते थे। इसलिए वह सम्पादन-श्रम की कठोरता से ऊबने के बजाय उसमें डूबकर उसे अनुकूलित कर लेते थे। पाण्डुलिपि का सम्पादन करते समय उनके समक्ष भाषा, लेखक और प्रेस ये तीन ध्यातव्य अवश्य ही रहते थे। वह बराबर कहते थे कि सम्पादक के समक्ष विभिन्न लेखकों की विभिन्न प्रकार की रचनाएँ आती हैं-सबकी शैली, लिखावट, व्याकरण एवं वर्तनी-सम्बन्धी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न। उन सभी रचनाओं को अपने पत्र की भाषा, वर्तनी और नीति के अनुकूल बनाना, साथ ही लेखक के विषय की मौलिकता को सुरक्षित रखना एक ओर जहाँ बहुत बीहड़ काम मालूम होता है, वहीं दूसरी ओर विभिन्न लेखकों की विभिन्न रुचियों के स्वारस्य में एक प्रकार का आनन्द भी मिलता है। वस्तुतः, आचार्य शिवजी लेखक की मौलिकता में सम्पादक की मौलिकता के विसर्जन को ही उत्कृष्ट सम्पादन का मूल मानते थे।

आचार्य शिवजी लेखक की वैयक्तिक मौलिकता को कम महत्त्व देते थे, किन्तु उसके विषय की मौलिकता को अक्षुण्ण रखते हुए उसके लेख में चमत्कार पैदा कर देना उनकी सम्पादन-कला की अपनी विशेषता थी। उनके सम्पादन-काल में मैंने देखा कि वह चालीस-चालीस पृष्ठों के लेखों को कुल चार पृष्ठों में फिर से लिख देते थे। अपने जीवन के अन्तिम प्रहर में भी अहोरात्र सम्पादन-तत्परता का ऐसा उदाहरण बहुत कम मिलेगा। जबकि उनकी जीवन-स्थिति कठिन संघर्ष का प्रतीक बनी हुई थी। सम्पादन के पीछे वह जी-जान लगा देते थे। सांसारिक यातनाओं की परवाह किए बिना उनकी लेखनी अविराम चलती थी। 'साहित्य' के लिए सामग्री भेजने के सन्दर्भ में उनके विचार उनके ही मर्मिल शब्दों में द्रष्टव्य हैं

“...आज भी दो पन्ना लिख सका। उसे भेजता हूँ। कल फिर कुछ लिख सकूँगा, तो परसों भेजूँगा।...इस समय मन स्थिर नहीं है। परिवार अस्त-व्यस्त और खिन्न है। क्या लिखा और क्या लिखना चाहिए, यह सन्तुलन नहीं रह पाता। फिर भी आपका काम रुकेगा नहीं।...बहुत चिन्तित और विश्रान्त हूँ, विश्राम के क्षण दुर्लभ हो गए हैं।”

‘साहित्य’-सम्पादन के क्रम में उनके द्वारा मुझे लिखे गए एक अन्य पत्र के कुछ शब्द हैं

“...गत सोमवार को थोड़ा लिखा था। उसे भेजता हूँ। अचानक शेखर (आचार्य जी का पौत्र) की दशा शोचनीय हो गई और मंगलवार को प्रातःकाल उसका देहान्त भी हो गया। इसलिए आगे न लिख सका। आज त्रिरात्रि है। शौरकर्म और पिण्डदान की रस्म पूरी हो जाएगी, उसके बाद फिर लिखूँगा। कल भी लिखूँगा। परसों शनिवार को एक अंक की समालोचना पूरी करके भेज दूँगा। तब दूसरे अंक के लिए लिखूँगा।”

आचार्य शिवजी की सम्पादन-नीति की झाँकी उनके एक दूसरे पत्र में द्रष्टव्य है। उन्होंने मुझे लिखा था

“बारह लेख भेजता हूँ। उनमें एक...सम्पादित नहीं है। मुझे सूझता ही नहीं, पढ़ा नहीं जाता। आप उसे ठीक कर लें। बहुत ही संक्षिप्त कर दें। केवल अतिशय आवश्यक बातें रहने दें। अन्य लेखों में अधिकांश आवश्यक बातें आ गई हैं। आप पूफ पढ़ते समय भी सावधान रहा करें, जहाँ कहीं पुनरुक्ति-सा दीख पड़े, अपने सम्पादकीय अधिकार का सदुपयोग कर डालिए।”

आचार्य शिवजी की, सम्पादन-कार्य में अविश्रान्त सयत्नता, परिश्रमशीलता, सचेष्टता, तन-मन की स्थिति से निर्लिप्तता तथा अपने सहयोगी पर एकान्त स्नेहिल आस्था आदि कुछ ऐसे आदर्श हैं, जिनसे उनके हृदय की हिमालय जैसी उच्चता का संकेत मिलता है। उनकी सम्पादन-पद्धति स्वेदवाही बौद्धिक श्रम की चरमावस्था का ज्वलन्त प्रतीक थी। छोटे-बड़े सभी प्रकार के लेखकों की कदर करने और उनका नाज उठाने की कला तो वह अपने साथ ही लेते गए। वह तो सम्पादन-कला के साथ ही लेखकों की आदर-भावना के भी पर्याय थे। यही कारण है कि वह लेखकों के लिए आदर्श सम्पादक थे, तो सम्पादकों के लिए आदर्श लेखक। वह न केवल लेखकों का ही आदर करते थे, वरन् लेखक भी उनके भावों और विचारों का पूरा सम्मान करते थे। उनका सम्पादन-कार्य लेखकों को हतोत्साह बनाने या उन्हें लेखन-प्रवृत्ति से विरत करने के लिए नहीं था, अपितु लेखक, साहित्यकार और कलाकार की सर्जना ही उनके सम्पादन का उद्देश्य होता था। उनका सम्पादक-व्यक्तित्व कभी विवाद्य या आलोच्य नहीं हुआ।

एक बार डॉ. धर्मवीर भारती ने ख्यातनामा साप्ताहिक ‘धर्मयुग’ में ‘क्या हिन्दी हार गई’ शीर्षक स्तम्भ का प्रवर्तन किया था, जिसके लिए उन्होंने आचार्य शिवजी से आलेख आमन्त्रित किया था। डॉ. भारती ने उस आलेख में अपने सम्पादनाधिकार का भरपूर उपयोग किया था, परन्तु आचार्य शिवजी ने इसके लिए कभी खिन्नता व्यक्त नहीं की; क्योंकि इसे वह सम्पादक के सहज सम्पादनाधिकार के रूप में स्वीकार करते

थे। यद्यपि तत्कालीन कतिपय साहित्यिकों ने डॉ. भारती के इस सम्पादनाधिकार को आचार्य शिवजी के अपमान का मुद्दा बनाकर काफी आक्रोश व्यक्त किया था और तत्कालीन त्रैमासिक ‘दृष्टिकोण’ के सम्पादक पं. शिवचन्द्र शर्मा ने डॉ. भारती से आलेख की सम्पादित पाण्डुलिपि वापस भेजने का आग्रह किया था। स्वाभिमानी सम्पादक डॉ. भारती ने भी आलेख की सम्पादित प्रति निर्भीकतापूर्वक वापस भेज दी थी, जिसका ब्लॉक बनवाकर शर्माजी ने ‘दृष्टिकोण’ में यथावत् छपवाया था। किन्तु इस सन्दर्भ में आचार्य शिवजी ने कभी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। एक अच्छे सम्पादक की कदर करना एक अच्छा सम्पादक ही भली-भाँति जानता है।

आचार्य शिवजी जितनी तत्परता सम्पादन में रखते थे, उससे कहीं अधिक तत्परता पूफ-संशोधन में। पूफ की एक भी अशुद्धि उनके अन्तस्तल को सालने-कचोटने लगती थी। असतर्कतावश, छपने के बाद भी रहनेवाली पूफ की गलतियों को देखकर उनका खिलता हुआ चेहरा मुरझा जाता था। उनका कहना था कि एक अच्छे सम्पादक का अच्छा पूफरीडर होना भी अनिवार्य है। निश्चय ही, पूफ-संशोधन सम्पादन का ही एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। भाषा की पाणिनीयता को आचार्य शिवजी अधिक मूल्य देते थे। ‘साहित्य’ त्रैमासिक के दूसरे सम्पादक सम्मान्य आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने एक बार ‘रुझान’ शब्द का स्त्रीलिंग में प्रयोग कर दिया। आचार्य शिवजी ने इसके लिए उन्हें टोका। पौरस्त्य और पाश्चात्य शैली के दो आचार्यों की यह भिड़न्त अपना ऐतिहासिक मूल्य रखती है। आचार्य नलिनजी ने अपना प्रमाद स्वीकार करते हुए ‘साहित्य’ में, क्षमा की वचोभंगी में ऐतिहासिक महत्त्व की एक सम्पादकीय टिप्पणी लिखी, जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि वह डॉ. रमाशंकर शुक्ल ‘रसाल’ के कोश से भ्रमित हुए। आज तो पदे-पदे व्याकरण की सदोषता और शब्दों के अपप्रयोगों की प्रचुरता के बावजूद सम्पादक अपनी अज्ञता को विज्ञता के अहं से आच्छादित करने में तनिक भी संकुचित नहीं होते।

आचार्य शिवजी पूफ-संशोधन के समय प्रेस की कठिनाइयों पर भी पूरा ध्यान रखते थे। उनका देखा हुआ पूफ इतना साफ और सजा हुआ होता था कि प्रेस-कम्पोजिटर्स को न कभी किसी प्रकार की असुविधा होती थी और न बार-बार पूफ माँगने की नौबत ही आती थी। फलतः, छपाई का कार्य बड़ी शीघ्रता से होता था और छपने के बाद अशुद्धियों की सम्भावना भी कम ही रहती थी। टाइपों के चुनाव और मैटर की सजावट में तो उनकी अभिरुचि बड़ी सटीक होती ही थी। सम्पादन और पूफ-संशोधन की तरह सामग्री-सज्जा में भी उनकी अक्लान्त तत्परता अभिनन्दनीय होती थी। उन्हें हिन्दी के मुद्रण-प्रकाशन को सुविकसित होते देखने की सहज लालसा थी। वह अहर्निश सम्पादन-कला के अतिरिक्त मुद्रण-प्रकाशन-कला में भी अभिरामता की प्रतिष्ठा के निमित्त उद्विग्न दीखते थे।

आचार्य शिवजी की सामग्री-सज्जा के प्रति तत्परता मुझे लिखे गए उनके एक पत्र में द्रष्टव्य है

“बिहार की महिलाएँ (अभिनन्दन-ग्रन्थ) में...लेख जिस पृष्ठ में समाप्त हो, उसमें यदि नीचे स्थान खाली बचे, तो वहाँ कोई अच्छी सूक्ति दे दीजिएगा और नए पेज से ‘बिहार की प्रमुख महिलाएँ’ शुरू कराइएगा। यह शीर्षक कुछ बड़े सुन्दर टाइप में रहेगा। फिर महिलाओं के नाम का टाइप उससे कुछ छोटे टाइप में रहे। लेखकों के नाम जैसे पहले थे, वैसे ही रहें।”

यह ध्यातव्य है कि आचार्य शिवजी सम्पादक के साथ ही समीक्षक और भाषा-परिमार्जक एवं हिन्दी की खूबी-खराबियों पर निरन्तर मर्मभेदी दृष्टि रखनेवाले थे। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों के पाठकों को यह मालूम होगा कि उनकी टिप्पणियाँ कितनी रचनात्मक और हिन्दी के व्यापक हितों की ओर संकेत करनेवाली हैं। सम्पादन के नाम पर हिन्दी में गन्दगी या धाँधली फैलानेवाले के प्रति वह सदा खड्गहस्त बने रहते थे। ऐसी जगह में उनका समीक्षकवाला व्यक्तित्व शिव के तृतीय नेत्र की तरह उन्मीलित हो उठता था। त्रैमासिक ‘साहित्य’ में ‘प्राची-प्रकाश’ नामक पत्र के दीपावली-विशेषांक की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा है

“इस पत्र को भारत के साहित्यसेवियों का सहयोग भी प्राप्त है। उसके माध्यम से बर्मा में हिन्दी-प्रचार की वृद्धि हो रही है। यह बर्मी जनता और भारतीयों में सद्भावना भी बढ़ा रहा है। भारतवासियों को यह बर्माप्रवासी भारतीयों की स्थिति से परिचित कराता रहा है। इससे यह भी पता चलता है कि बर्मा में भी हिन्दी के लेखक और कवि हैं। बर्मा के भारतीयों में स्वदेश (भारत) की संस्कृति और भाषा के प्रति जो ममता है, उसका परिचय भी इससे मिलता है।”

पर इसके साथ उन्होंने यह भी लिखा है

“इस विशेषांक का मुद्रण और सम्पादन सन्तोषप्रद नहीं है। छपाई में स्वच्छता और शुद्धता की कमी है। सम्पादन-कार्य में तन्मयता और सावधानता का अभाव है। एक लेख इसमें है ‘राम की हृदयहीनता’। इसके लेखक हैं श्री नवीनचन्द्र काकूभाई ठक्कर। उनके अनर्गल विचार बड़े असन्तुलित हैं। आवेश और आक्रोश से भरा हुआ ऐसा लेख इस पत्र की साहित्यिक मर्यादा को धक्का पहुँचाता है।”

विशेष विश्लेषण से सामान्य निष्कर्ष निकालना या सिद्धान्त का प्रतिपादन करना समीक्षक का दायित्व है। आचार्य जी का निष्कर्ष देखिए

“तर्कयुक्ति-संगत संयत विचार का लेख मतभेद रखनेवालों को आकृष्ट कर लेता है। किन्तु, लेखक के विचार से सहमत होनेवाले पाठक भी ऐसी अवांछनीय शैली कदापि पसन्द नहीं करेंगे। आजकल बहुत से आवेशपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं, जिनमें विचारों का सन्तुलन नहीं होता। पत्र-सम्पादक की यह जिम्मेवारी है कि वह निरंकुश लेखनी की नकेल सँभाले।”

इस उद्धरण का अन्तिम वाक्य शिवजी की टकसाली भाषा और विशिष्ट गद्य-शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है।

आचार्य शिवजी का शरीरपात हिन्दी-साहित्य पर अनभ्र वज्रपात है। आचार्य द्विवेदी के निधन के बाद हिन्दी-साहित्य में भाषा का सम्पादन-संशोधन तथा परिमार्जन-परिष्करण के सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह वे ही कर रहे थे। भाषा-सुधार की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-युग के बाद अगर कोई युग बनेगा, तो वह ‘शिवपूजन-युग’ ही होगा। आचार्य शिवजी की समाप्ति के साथ ही हिन्दी का टकसाली प्रयोग समाप्त हो गया। मुहावरे और कहावतें शेष हो गईं। अधिक-से-अधिक को कम-से-कम में कहने की तन्त्रात्मक पद्धति निरस्तित्व हो गई। लेखकों का कद्राँ सम्पादक शेष हो गया। आज जो स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि ‘वाङ्मय’ को ‘वाङ्मय’ और ‘द्वन्द्व’ को ‘द्वन्द्व’ लिखनेवाले लेखक की भी सुधी सम्पादक के प्रति अभिवादनशीलता नहीं होती।

वस्तुतः आचार्य शिवजी के जैसे श्रमी और यमी सम्पादक नितान्त दुर्लभ हैं। आज की अधिकांश हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की भाषा-भ्रष्टता, सम्पाद्य सामग्री की सदोषता, सम्पादन-श्रम में अतत्परता एवं सम्पादक-मण्डल की तथाकथित प्रथा और उसकी निष्क्रियता के प्रति वे अत्यन्त असन्तुष्ट रहते थे। उनका कहना था कि आज की पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादन के नाम पर हिन्दी का दुरुपयोग होता है। उनको हिन्दी की वर्तमान दशा से दुःख होता था।

हिन्दी के सांस्कृतिक शिल्पकार : आचार्य शिवपूजन सहाय

कर्मन्दु शिशिर*

आचार्य शिवपूजन सहाय अथवा उन जैसे अन्य रचनाकारों के योगदान का आकलन करने के लिए हमें थोड़ा-सा ठिठक कर, उनके युग पर विचार करना होगा। आखिर क्यों ऐसे रचनाकार हिन्दी की मुख्य ऐतिहासिक धारा से किनारे रखे गए? इसके अन्य कारणों को हम गौण मानें, तो सम्भवतः सबसे गम्भीर कारण यह था कि छायावाद की पूरी अवधारणा कविता केन्द्रित रही और वहाँ भी निराला, पन्त, प्रसाद और महादेवी से बाहर पाँव पसारने से परहेज किया गया। इस दौर के पूरे गद्य लेखन की उपेक्षा की गई। किसी काल-खण्ड के ऐतिहासिक मूल्यांकन में जिस समग्रता की अपेक्षा की जाती है, हिन्दी में उसका प्रायः अभाव रहा। छायावादी प्रतिमानों, प्रवृत्तियों और विशेषताओं की उस दौर के पूरे लेखन में परख-पहचान की जानी चाहिए थी। भाषा, सोच और संवेदन के स्तर पर ऐसा किया गया होता, तो उस दौर की ज्यादा भव्य तस्वीर सामने आती। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामवृक्ष बेनीपुरी की रचनावलियों के प्रकाशन से इन रचनाकारों के योगदान पर तो रोशनी पड़ी, लेकिन इनके मूल्य, सोच, संवेदन और भाषा के छायावादी संस्कारों को लेकर कोई आकलन अभी तक मेरे देखने में नहीं आया। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', शिवपूजन सहाय, विनोद शंकर व्यास सहित इस दौर के अनेक ऐसे गद्यकार हैं जो छायावादी परम्परा को समृद्ध करते हैं। इस परम्परा से नाभि-नाल रिश्ता कायम करना नए लेखकों के लिए हर दृष्टि से उपयोगी और रचनात्मक होगा। परम्परा के विवेक से ही आधुनिकता विकसित होती है।

आचार्य शिवपूजन सहाय नवजागरण की आखिरी कतारवाले हिन्दी लेखक थे, जिनके हिस्से स्वाधीनता संघर्ष के साथ लगभग डेढ़ दशक का आजाद भारत भी मिला था। वे स्वाधीनता की आँच में तपकर आजाद भारत में भाषा, साहित्य और संस्कृति की सेवा में समर्पित हुए। वे भारतीय अस्मिता के प्रहरी लेखक थे। लेकिन जो बात सबसे अधिक आश्चर्य में डालती है, वह है उनके लेखन में राजनीतिक जागरूकता का

* डॉ. कर्मन्दु शिशिर जानेमाने लेखक एवं समीक्षक हैं।

अभाव! वे स्वभाव, सोच और व्यवहार में गाँधीवादी थे, लेकिन राजनीतिक सरोकारों की अनुपस्थिति के आसंग में उनका लेखन अपने युग में अपवाद ही है। वे सुधारवादी और सामाजिक सेवा भाव से आगे बढ़कर कभी राजनीतिक प्रश्नों से नहीं टकराये। लेकिन उनके सम्पूर्ण लेखन में नवजागरण के सरोकारों की गहरी छानबीन करें तो ऐसी बहुत सारी निर्दोष विचार पगडण्डियाँ जरूर मिलती हैं जिसमें सामाजिक सार्थकता के ढेर सारे रचनात्मक सूत्र हैं। रचनात्मकता में निर्दोष मन की कर्मठता बहुत काम की होती है।

बेशक उनके जीवन और लेखन में धार्मिक आस्था का स्वर अत्यन्त प्रबल था। उनके लिए मामूली सुख 'ईश्वर की कृपा' और बड़े से बड़ा दुःख 'ईश्वर की इच्छा' रहा। इसी आस्तिक आलोक में उन्होंने जीवन को कठोर नैतिक आचरण से संयमित किया था। उनके लिए भाषा और साहित्य-प्रेम, ईश्वर अराधना का ही पर्याय था। वे कर्म की निष्कामता और कर्मठता के बड़े आग्रही थे। आजादी के बाद भारतीय समाज में तेजी से आ रहे परिवर्तनों को उन्होंने बहुत पहले भाँप लिया था और इस पर एक चेतावनी भरा, उनका आलेख स्वाधीनता की पहली वर्षगाँठ पर छपा था। आजादी के उछाह में आनेवाले खतरों की आशंका थी। उन्होंने विविध क्षेत्रों में योजनाबद्ध कार्यों को करने के संकल्प और उसे अगली वर्षगाँठ तक सम्पन्न कर लेने की खुशी में ही ऐसे उत्सव आयोजित करने की बातें लिखी थीं। अपने आखिरी दिनों की डायरियों में वे मोहभंग की मार्मिकता से बुरी तरह पीड़ित दिखते हैं। वे स्वयं भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में नवनिर्माण करने को समर्पित थे और इस दिशा में उन्होंने अनेक उल्लेखनीय कीर्तिमान रचे भी लेकिन इस दौर में घनघोर अवसरवादी अनुभवों ने उन्हें बुरी तरह विचलित किया और वे अन्दर से बेहद क्षुब्ध और निराश थे। ये सारी बातें उनके आखिरी दिनों की छपी डायरियों में दर्ज हैं।

उनके साहित्य और साधना में जो बात सबसे पहले प्रभावित करती है, वह है हिन्दी के प्रति उनका दुर्लभ समर्पण। उन्होंने हिन्दी को अपने पाँवों पर खड़ी करने में अपनी रचनात्मक प्रतिभा और लेखन तक की परवाह नहीं की और खुद को पूरी तरह भाषा के बहुविध विकास में लगा दिया। उनका अपना जीवन मार्मिक दुखों की डगर से गुजरा था और उनकी व्यथा अनेक स्तरों पर बेहद गहरी थी। उनके सक्रिय और सार्वजनिक जीवन में यह व्यथा दबी रही। यह आत्मलीनीकरण का स्वभाव उनके लिखे संस्मरणों से ही नहीं, उन पर लिखे अनेक संस्मरणों से भी प्रमाणित है। उनकी पीड़ा का जो हिस्सा समाज, साहित्य या भाषा की दुर्दशा से जुड़ा है, वह भी बड़ी मार्मिकता के साथ उनकी रचनाओं में आया है।

सामाजिक सरोकारों में उनकी चिन्ता के केन्द्र में गाँव थे और थागाँवई समाज। गाँवों और ग्रामीण संस्कृति की उन्हें गहरी पहचान थी और यह अकारण नहीं कि उनके साहित्य का काफी बड़ा हिस्सा गाँवों से जुड़ा है। 'ग्राम-सुधार' और

‘अन्नपूर्णा के मन्दिर’ में उनकी ऐसी प्रस्तिकाएँ हैं, जो गाँधीवादी विचारधारा से आदर्श परिवर्तन का व्यावहारिक ढाँचा रखती हैं। भारत के गाँवों को किस रूप में आदर्श स्वरूप दिया जाए, इसका एक तरह से उन्होंने ‘ब्लू प्रिंट’ ही सामने रख दिया। इतने विस्तार में, छोटी-छोटी बातों तक को, उन्होंने समेटा है जैसे गाँवों और लोगों के भेदे नामों को बदलने का आग्रह। उनकी बड़ी इच्छा थी कि वे अपनी परिकल्पना के आदर्श गाँव को मूर्त रूप से भी साकार करें। इसके लिए उन्होंने अपने गाँव में कुछ रचनात्मक उपक्रम सोचे और प्रयत्न भी किए, लेकिन यथार्थ के कटु अनुभवों ने उन्हें तुरन्त विरत कर दिया। आजाद भारत में बुनियादी परिवर्तनों के स्वप्न का शिल्पन इतना आसान नहीं रह गया था। उन्होंने लिखा ‘गाँवों के लोग भोले नहीं, भाले हैं।’

उनके सम्पूर्ण लेखन में एक नैतिक दृष्टिकोण का प्रबल आग्रह था, जो अन्त तक बना रहा। उनका व्यक्तित्व और व्यवहार महात्मा गाँधी की अनुकृति था। तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद उन्होंने भाषा और साहित्य की वेदी पर अपनी मौन शहादत दे दी। यह मौन ही उनके व्यक्तित्व की गरिमा थी और रामविलास जी से शब्द उधार लूँ तो ‘कवच’ भी! रामविलास जी के बार-बार आग्रह करने के बावजूद उन्होंने निराला जी के प्रति किए गए लोगों के अत्याचारों की चर्चा नहीं की। रामविलास जी ने लिखा है कि वे ऐसा करने में मृत प्रेतात्माओं की आत्मा का भय बताते थे, जबकि असल में उन्हें जीवित प्रेतों का ही भय था। उनके लगभग ढाई हजार पृष्ठों के विपुल लेखन में सम्भवतः एक भी पंक्ति ऐसी नहीं, जिसमें नाम सहित किसी व्यक्ति की आलोचना की गई हो। बात भय की नहीं, शील की थी। उनकी नैतिकता, जीवन और लेखनदोनों में दुराग्रह की सीमा तक थी। वे परस्पर विपरीत स्वभावों और विरोधी रिश्तोंवाले लेखकों से अभिन्न जुड़े रहे। यही कारण था कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें ‘अजातशत्रु’ कहा।

बेशक हिन्दी सेवा ही उनके व्यक्तित्व का सत्त्व है और सीमा भी। लेकिन उनके सृजनात्मक लेखन का हिस्सा चाहे जितना कम हो, उनकी गद्य कला और भाषा-शैली असन्दिग्ध रूप से श्रेष्ठ है। इस दृष्टि से ‘देहाती दुनिया’ आँचलिक उपन्यास, कहानी का प्लॉट कहानी, कुछ निबन्ध और कई मार्मिक संस्मरणों में उनकी भाषा-शैली और गद्य-कौशल हिन्दी गद्य के श्रेष्ठ प्रतिमान हैं। ऐसा व्यवस्थित गद्य, उपयुक्त शब्दों का सटीक प्रयोग, त्रुटीहीन भाषा, सजल-संवेदित और प्रांजल गद्य का मोहक प्रवाहपूरी हिन्दी में बहुत कम गद्यकारों में दिखने को मिलता है। मुहावरों, लोकोक्तियों और कहावतों का जैसा प्रयोग, उन्होंने ‘देहाती दुनिया’ और ‘कहानी के प्लॉट’ में किया है वह भी हिन्दी गद्य में अप्रतिम है। निःसन्देह उनका गद्य कई अर्थों में विलक्षण है। उनके गद्य में संस्कृत और जनपदीय बोलियों के अलावा उर्दू के भी स्रोत-सूत्र मिलते हैं, जिन्हें प्रयोग की दृष्टि से नए गद्यकारों को एक पाठ्यक्रम के रूप में लेना चाहिए। गद्य शैलियों की इस विविधता और भाषा सूत्रों के संकेतों के पीछे, दरअसल हिन्दी की

क्षमता विस्तार का ही आशय था। उनके गद्य का तत्सम रूप, जो छायावादी काव्यात्मक संस्कारों से बेहद गीला है, वह संस्कृत से सोखकर रचा गया है। दूसरी ओर हिन्दुस्तानी रूप में उर्दू वाली रवानी भी है। इन दोनों विपरीत ध्रुवों से अलग, भोजपुरी से पगी और निखरी भाषा की ताकत और सौन्दर्य का एक अलग ही आकर्षण है। शब्दों की अर्थ छवियों और क्षमताओं को उन्होंने अपने विशिष्ट प्रयोगों से सम्भव किया। वे उन सावधान हिन्दी गद्यकारों में थे, जो वाक्य में ‘प्रहार’ और ‘आघात’ में, एक के प्रयोग चयन में, दो दिनों तक कलम रोके रखते थे। भिन्न भाव, भिन्न परिवेश और प्रसंग में शब्द-योजना की कल्पनाशीलता आपको जैसी लगे, भाषा की जीवन्तता मुग्ध कर देती है। ओज, माधुर्य, करुणा, विनम्रता और व्यंग्य की परिपक्वता उनके बेहतर गद्य की विशिष्टताएँ हैं। ‘मेरा जीवन’ के प्रारम्भिक अंशों में उनके बारीक वर्णन, गँवई चित्रों के चयन और देशी मन की निश्छल भावुकता एक सिहरन की तरह महसूस होती है।

विचारों के स्तर पर गाँधीवादी नैतिक सोच और संवेदन में उनके मानस का परिष्कार हुआ था। हम चाहें तो उन्हें मानवतावादी या परम्परावादी भी कह सकते हैं। प्रबल धार्मिकता के कारण उनमें पुनरुत्थानवादी संकेत ही नहीं मिलते, बल्कि हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का आग्रही स्वर भी सुनाई पड़ता है। बावजूद इस आस्तिकता के वे कट्टरता और पाखण्डों के विरोधी थे। सन् 1928 की लिखी उनकी एक टिप्पणी है “रामभक्ति की ओट में आज सारे देश में जो अत्याचार हो रहे हैं, उनसे कोई अनजान नहीं है, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम को लोगों ने मिट्टी का खिलौना बना लिया है। उनके आदर्श चरित्र का महत्त्व गया चूल्हे-भाड़ में। सिर्फ अपने पापों का पुचारा देने से मतलब है। भला, वह समर्थ महापुरुष थे, उनका अनुकरण कौन कर सकता है। ऐसी भावना और ऐसी बुद्धि रखते हुए भी, यदि हम रामभक्त हैं तो समुद्र में विन्ध्याचल के तैरने में कोई सन्देह नहीं है।” वे अपने समय के साम्यवादी और समाजवादी आन्दोलनों से अप्रभावित रहते हुए भी, इनसे जुड़े रचनाकारों के अभिन्न रहे। लेकिन उनके लेखन में समाजशास्त्रीय प्रगतिशीलता और राजनीतिक स्वर का विरोध भी है। परम्परा और रूढ़ियों के प्रति एक किस्म का मोह उनके जीवन में भी रहा और विचारों में भी। वे स्वयं आधुनिक नहीं थे, लेकिन आधुनिकता के प्रबल प्रणेता नलिन जी से अभिन्न जुड़े रहे, कई समाजवादी भी मित्र रहे।

लेखन के नाम पर शिवपूजन जी के पास एक उपन्यास, कुछ कहानियाँ, कुछ निबन्ध, अनेक जीवन्त संस्मरण, कुछ संकलन-सम्पादन और सम्पादकीय टिप्पणियों का जखीरा है, जो बिल्कुल ही अव्यवस्थित है, जैसा उनका अपना जीवन भी था। दरअसल वे हिन्दी के ऐसे ‘होलटाइमर’ थे, जिसके पास व्यवस्था का वक्त नहीं था। जाड़े की कड़कड़ाती रात में भोजन के बाद अँगीठी पर हाथ सँकेते हुए भी, वे हड़बड़ी में रहते थे, क्योंकि उन्हें रात को प्रूफ पढ़ने थे, किसी की पुस्तक या रचना का

सांगोपांग सम्पादन करना था अथवा पत्रिका के निकल रहे अंक का सम्पादकीय लिखना था। हिन्दी के प्रति अनुराग का हाल यह था कि बुढ़ापे में अपनी आँखें इस प्रतिज्ञा के लिए चौपट कर लीं कि परिषद् की पुस्तकें उतनी प्रामाणिक छपें, जितनी ऑक्सफोर्ड प्रेस के प्रकाशन की हैं। उनके नवजागरण का हिन्दी प्रेम सिर्फ भाषा-प्रेम भर नहीं था, बल्कि राष्ट्रीय अस्मिता का पर्याय था। लोग उनके यहाँ आकर टिकते, अपनी कूड़ा-कर्कट पुस्तकों का संशोधन-परिमार्जन कराते और बाजदफा लौटने का किराया भी वसूल ले जाते। उनके एक सहयोगी आचार्य हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने बताया था कि कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के संशोधनों में वे साक्षी रहे हैं कि लेखक का अपना लिखा मात्र दस से बीस प्रतिशत ही रह जाता था बाकी शिवपूजन जी का। अपनी प्रतिभा, समय और क्षमता का ऐसा आत्महन्ता शायद ही कोई दूसरा हुआ हो। उनके पाण्डुलिपि शोधन में प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' और प्रसाद जी की 'कामायनी' भी शामिल है। यह अकारण नहीं था कि उनकी मृत्यु पर दिनकर जी ने कहा था कि "अगर शिव जी की सोने की मूर्ति बनाकर पन्ने की परतें चढ़ाई जाएँ, तब भी उनके किए का प्रतिदान, बिहार नहीं चुका सकता।"

उनके सांस्कृतिक अवदान का सर्वाधिक मूर्त उदाहरण बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् है। यह उनकी अलिखित कीर्ति का ऐसा गौरव-स्तम्भ है जिसमें उनका अप्रतिम योगदान झुठलाया नहीं जा सकता। इस संस्था में उन्होंने नवजागरण काल की दुर्लभ पत्र-पत्रिकाओं और अप्राप्य पुस्तकों का विपुल भण्डार इकट्ठा किया। दूर-दराज के क्षेत्रों में जाकर खुद भी माथे पर किवालों के बण्डल उठा, कमर भर पानी लॉघ, एक दुर्लभ संग्रहालय स्थापित किया। यह कितनी शर्मनाक बात है कि आज संग्रहालय की दुर्लभ सामग्री तेजी से विनष्ट हो रही है और हम उसे बचा नहीं पा रहे हैं। उनका निजी संग्रहालय इतना महत्त्वपूर्ण है कि किसी अकेली जिन्दगी की सम्पूर्ण उपलब्धि के रूप में भी वह गौरवपूर्ण होगी। खेद है कि उनके वारिसों ने उसे सार्वजनिक उपयोग से दूर रखा। परिषद् ने बिहार की आदिवासी भाषाओं सहित तमाम लोकभाषाओं के सन्त साहित्य, लोकगीतों, लोककथाओं, मुहावरों, लोकोक्तियों, पहेलियों, कृषि-कोश संकलित कराए, जिनका बहुलांश प्रकाशित हुआ। उन्होंने गैर हिन्दी भाषाओं के गौरव-ग्रन्थों और गैर अंग्रेजी भाषाओं के शीर्ष ग्रन्थों का श्रेष्ठ और प्रमाणित अनुवाद कराकर प्रकाशित कराए। प्राचीन भाषाओं में प्राकृत, पालि तथा संस्कृत के आर्ष ग्रन्थों के भी सर्वोत्तम अनुवाद आधिकारिक अनुवादकों से कराकर प्रकाशित कराए। उन्होंने न सिर्फ प्राचीन भारत की सांस्कृतिक सम्पन्नता को, बल्कि भारतीय मेधा की भव्य वैज्ञानिक क्षमता को भी हिन्दी में पाठकों को जनसुलभ कराया। इतिहास, दर्शन, राजनीति, युद्ध-नीति, भाषा विज्ञान, कोश, मूर्तिकला, पुरातत्त्व-शोध, अर्थशास्त्र, यात्रा-वृत्तान्त, विज्ञान, कृषि, भूगोल, मुद्रण-कला, उद्योग शिल्प सहित उन तमाम विषयों और विधाओं को समेटते हुए हिन्दी भाषा के व्यापक विस्तार को मूर्त किया।

बिहार के पुराने लेखकों की ग्रन्थावलियों तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन अलग से महत्त्वपूर्ण काम है। उन्होंने बिहार के गौरवशाली सांस्कृतिक व्यक्तित्व को पूरी भव्यता में उकेरने का अभूतपूर्व कार्य किया। एक छोटे से संस्थान की तमाम चखचख और सीमित संसाधनों के बावजूद अल्प समय में ही, उन्होंने व्यापक क्षेत्रों में कीर्तिमान स्थापित करनेवाले ग्रन्थ लिखवाए और प्रकाशित कराए, जिससे हिन्दी की आत्मनिर्भरता सम्भव हो सके। अपनी-अपनी विधाओं और क्षेत्रों के तमाम राष्ट्रव्यापी तत्कालीन शिखर विद्वान् विशेषज्ञों द्वारा जो ग्रन्थ तैयार कराए जिनकी चर्चा करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल ने उन्हें 'दोग्धा' कहा था। डॉ. मोतीचन्द्र की 'सार्थवाह' वासुदेव शरण अग्रवाल की 'हर्षचरित : एक अध्ययन', राहुल सांकृत्यायन की 'सरहपा' और 'मध्य एशिया का इतिहास', डॉ. अल्लेकर की 'गुप्तकालीन मुद्राएँ', नीलकण्ठ पुरुषोत्तम शास्त्री की 'प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान', आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', आचार्य नरेन्द्र देव की 'बौद्धदर्शन', गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' और 'पुराण परिशीलन', पिशेल की 'प्राकृत भाषा का इतिहास', केदारनाथ सारस्वत द्वारा अनूदित 'कथा सरित्सागर' जैसी अनेक महान् कृतियाँ उनके निजी प्रयत्नों से ही सम्भव हो सकीं। मानविकी, प्रौद्योगिकी और चिकित्सा के विश्वविद्यालयी छात्रों को हिन्दी से जोड़ने की दिशा में भी उन्होंने कई मौलिक योजनाएँ शुरू की थीं, जिसके काफी उत्साहवर्द्धक परिणाम भी आए। जाहिर है हमारे देश में बेहतर योजनाओं की उम्र कभी लम्बी नहीं रही। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन और पुस्तक-भण्डार तक उनके बुनियादी महत्त्व के कार्यों की सूची काफी लम्बी है। गाँवों, कस्बों और छोटे-छोटे नगरों में जाकर लगातार व्याख्यान देकर उन्होंने अपनी सांस्कृतिक सक्रियता का सकर्मक परिचय दिया। बिहार जैसे जातिगत जकड़नवाले प्रदेश में इतना कुछ कर पाना सचमुच आज विस्मयकारी लगता है। आधुनिक भारत के सांस्कृतिक शिल्पकारों में आचार्य शिवपूजन सहाय निर्विवाद रूप से अतुलनीय व्यक्तित्व हैं और उनके बहुस्तरीय कार्यों का मूल्यांकन इतना सहज नहीं। वे सचमुच भाषा की नींव मजबूत करने में शहीद हो गए।

अंकीया नाटकों के स्रोत एवं उनकी विशेषताएँ

धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री'*

अंकीया नाटकों के स्रोत पर विचार करने से पहले नाटकों के स्रोत पर किंचित् मात्रेण विचार कर लेना असंगत नहीं माना जाएगा, क्योंकि उससे हमें एक शृंखला मिलेगी और अंकीया नाटकों के स्रोत के उपकरण भी। सच तो यह है कि कोई भी साहित्यिक विधान एकाएक 'बिजली की कौंध' की तरह उत्पन्न नहीं होती, बल्कि उसके लिए अनेक वर्षों से उसकी भूमिका तैयार होती रहती है। फलतः यह माना जाएगा कि अंकीया नाटकों की भूमिका भी बहुत पहले से जन-मानस के बीच पनप रही थी।

जब हम नाटकों के स्रोत पर विचार करने को तत्पर होते हैं तब वह तथ्य सामने आता है "Drama could spring from the play of childhood who imagines for the time being, that he is some one else."¹ यानी जिस दिन किसी बालक ने खेल-खेल में अपने में किसी दूसरे व्यक्ति की कल्पना की, उसी दिन से नाटक का स्रोत फूट पड़ा। यह स्थिति प्राग्वैदिक काल की रही है।

विश्व में अनेक विचारकों ने इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत उपस्थित किए हैं। ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम ग्रन्थ है। वहाँ नाटकीय संवाद-योजना,² एवं नृत्य-योजना प्राप्त होती है। 'कात्यायन श्रोत-सूत्र' में सोमराजा के क्रय के लिए जो मोल-तोल होता है, उसमें पूरी नाटकीयता प्राप्त हो जाती है।³ प्रो. मैक्समूलर ने कर्मकाण्ड-विधान में नाटक के स्रोत को खोजने की चेष्टा की है।⁴ डॉ. एस. एन. दास गुप्त ने भी यह स्वीकार किया है कि 'वैदिक सूत्रों' में नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं और तत्कालीन धार्मिक संगीत और नृत्य के साथ नाटक का सम्बन्ध अवश्य रहा है।⁵ 'शुक्ल यजुर्वेद' से ज्ञात होता है कि उन दिनों शैलूष (नट) नामक जाति थी, जो व्यवसाय के रूप में नाटक खेलती थी। वाल्मीकि रामायण में राम के राज्याभिषेक की तैयारी हो रही है। कवि ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है

नट नर्तकं संघानां गायनां च गायताम्। यतः कर्ण सुखावाचः सुश्राव जनता ततः।⁶

* प्रो. (डॉ.) धर्मदेव तिवारी, गुवाहाटी विश्वविद्यालय में हिन्दी के आचार्य एवं विभागाध्यक्ष रहे हैं।

अर्थात् नटों, नर्तकों और संगीतज्ञों के गीत के कर्ण-प्रिय वचनों का आनन्द जनता ले रही थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रामायण-काल में नृत्य-वाद्य मिश्रित नाटक मंचित होते थे।

महाभारत के अध्ययनोपरान्त यह विदित होता है कि उस काल में भी नाटक विद्यमान थे। उसमें दो नाटकों के नाम 1. रामायण नाटक और 2. कौबेर रम्भाभिसार नाटक प्राप्त होते हैं। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में 'शिलानी' और 'कृशाश्व' नाट्याचार्य के नाम आए हैं।

इसके बाद संस्कृत नाटकों की सुदीर्घ परम्परा चलती है, पर इसके साथ ही लोक नाटक भी जन साधारण के मध्य चल रहे थे इसकी सम्भावना से इनकार नहीं कर सकते, क्योंकि किसी भी देश की सामान्य जनता अपने वातावरण तथा रुचि के अनुकूल विनोद का साधन स्वभावतः निकाल ही लेती है। इन साधनों में नाटक का स्थान उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, जिस प्रकार पठित समाज में काव्येषु नाटकम्⁸ का। जनसाधारण पठित वर्ग से कम जागरूक एवं क्रियाशील नहीं रहता है। इसकी पूरी सम्भावना है कि ग्रामीण जनता विधि-नियमानुसार पढ़ी-लिखी नहीं होती, पर उसकी क्रियाशीलता जनकाव्य एवं जननाटक की रचना करती है। इस सन्दर्भ में डॉ. कीथ का कथन देखा जा सकता है 'संस्कृत' में जो नाटक मिलते हैं, वे जनभाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा के स्वरूप को समझना जनता के लिए प्रायः असंभव था। केवल अल्पसंख्यक शिष्ट वर्ग उस भाषा को समझने में समर्थ था और उसी उच्च पदस्थ अल्पसंख्यक पठित समाज के लिए साहित्यिक नाटक लिखे जाते थे। एतदर्थ संस्कृत नाटक केवल एक वर्ग विशेष की कलाभिरुचि और हास्य विनोद का विषय रहा है। सामान्य जन-समुदाय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था।⁹ इस पर डॉ. दशरथ ओझा का मन्तव्य है कि $\times \times \times$ इसे कोई भी अस्वीकार न करेगा कि केवल साहित्यिक नाटक जनता के दैनिक जीवन में मनोविनोद के सर्वोच्च साधन किसी युग में भी न बन पाए होंगे। अतएव सामान्यतः अपठित तथा अर्द्धपठित जन-समुदाय में उनके जीवन के अनुरूप हास्य विनोदमय नाटक का सृजन होता चला आया है।¹⁰ इससे हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि साहित्यिक नाटकों के साथ-साथ जन नाटक या लोकनाटक भी प्रचलित रहते हैं, जो जगह-जगह पर मंचित होकर जन-समुदाय को रसास्वादन कराते हैं। यह परम्परा किसी एक भू-भाग में नहीं, बल्कि पूरे देश में अबाध गति से चलती रहती है। अपनी-अपनी भू-भागीय भाषा बोलियों में वे लिखे जाते हैं। यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि इन भू-भागीय भाषाओं में रचित काव्य या नाटक साहित्यिक काव्य या नाटक के स्रोत के रूप में भी काम करते हैं। फलतः अंकीया नाटकों के स्रोत इसमें छिपे हों, तो इसमें आश्चर्य क्या?

अंकीया नाटकों के स्रोत पर डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध' ने विशद रूप से विचार किया है। उनके अनुसार निम्नलिखित परम्पराएँ हैं¹¹

1. हासोन्मुखी संस्कृत नाटकों की परम्परा।
2. संगीतक परम्परा।
3. गीत गोविन्द की नृत्य-नाट और लीला-गान-परम्परा।
4. मध्यकालीन लोकनाटकों की परम्परा।
5. स्थानीय लोक नृत्य-नाच-परम्परा।

यहाँ प्रत्येक पर थोड़ा विचार कर लेना समीचीन होगा।

1. हासोन्मुखी संस्कृत नाटकों की परम्परा संस्कृत नाटकों की जो सुदृढ़ एवं सुदीर्घ परम्परा चली थी, वह 11-14 शती तक आते-आते हासोन्मुखी हो गई। साहित्यिक संस्कृत नाटकों में संगीत वाद्य गीतों का समावेश होने लगा। तत्कालीन 'प्रबोध छन्दोदय' और 'महानाटक' इसके उदाहरण हैं। ऐसा अनुमान है कि अंकीया नाटककारों ने इन नाटकों को पढ़ा होगा और उस पर चिंतन-मनन किया होगा। इसके साथ ही पाठशालाओं की पाठ्य-पुस्तकों में भी इसका नाम रहा होगा। उन लोगों ने इनसे प्रभाव ग्रहण कर अंकीया नाटकों की रचना की होगी। डॉ. मागध का अनुमान तर्क संगत लगता है कि 'इससे भाव, रचना कौशल, अंकहीनता और सूत्रधार के निर्माण में'¹² अंकीया नाटककारों को बहुत अधिक सहायता मिली होगी।

2. संगीतक परम्परा नाट्याचार्यों के ग्रन्थों में संगीतक की परिभाषा स्पष्ट रूप से नहीं प्राप्त होती। इसलिए अनुमान लगता है कि साहित्यिक नाटक से अलग हटकर जो जननाटक की परम्परा चल रही थी, उस पर नाट्याचार्यों का ध्यान नहीं गया होगा और वही संगीतक के नाम से अभिहित हुआ होगा, जिसमें वाद्य-संगीत एवं गीत का बाहुल्य रहा होगा। इस तरह यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन रही है। प्रयोक्ता या सूत्रधार जनसाधारण को अत्यधिक आनन्द-बोध कराने के लिए इसका प्रयोग करता होगा, क्योंकि साहित्यिक नाटक जनसाधारण के लिए कभी-कभी दुरूह बन जाता होगा।

संगीतक के इतिहास पर विचार करते हुए डॉ. मागध ने यह तथ्य उद्घाटित किया है कि इसका नाम चौथी शताब्दी में वररुचि कृत 'उभयाभिसारिका' नामक भाण में आया है। इसके बाद वाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' में इसका उल्लेख मिलता है। इन प्रमाणों के आधार पर उन्होंने अनुमान किया है कि **संगीतक संज्ञा का प्रचलन कदाचित् रंगशाला अथवा प्रेक्षागृह के कर्मियों द्वारा जैसे नाट्य प्रदर्शनों के लिए प्रारम्भ किया गया, जिसमें राजकीय ठाठ-बाट, संगीत और नृत्य की प्रचुरता होगी**¹³ इससे पूर्णतः सहमत होना आवश्यक नहीं। हमने पहले यह स्थापित किया है कि संगीतक साहित्यिक नाटकों से सर्वथा अलग जननाटक या लोकनाटक के रूप में प्रचलित थे। नाट्य शास्त्रीय ग्रन्थों में इसका उल्लेख न होना भी इसी धारणा को पुष्ट

करता है। जो हो, पर इतना तो अवश्य स्वीकार किया जाएगा कि अंकीया नाटकों के उदय में संगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसी सन्दर्भ में विद्यापति कृत 'गोरक्ष विजय' को देखा जाएगा जिसे लेखक ने स्वयं संगीतक की संज्ञा दी है। उनका नट कहता है 'ततो नटीमाहूय संगीतकमवतारयामि'। डॉ. मागध ने इस स्थल पर स्वीकार किया है कि विद्यापति द्वारा संगीतक का प्रयोग किया जाना इस बात का प्रमाण है कि यह नाट्य विधा विद्वन्मण्डली में 'स्वीकृत हो चुकी थी'¹⁴ इससे यह स्पष्ट होता है कि विद्यापति के पूर्व इसकी अवस्था जननाटकों तक ही सीमित रही है। सर्वप्रथम इसकी परिभाषा शुभंकर कृत 'संगीत दामोदर' में प्राप्त होती है। उनका कथन है

*तालवाद्यानुगं गीतं नटभिर्वत्र गीयते।
नृत्यस्यानुगतं रंगे तत् संगीतकमुच्यते।*

यानी संगीतक में गीत, वाद्य, नृत्य, रंगशाला एवं नटी की योजना होती है। इस प्रकार यह नृत्य प्रधान हो जाता है।

अस्तु, इसी के आधार पर उमापति उपाध्याय ने 'पारिजात हरण', विद्यापति ने 'गोरक्ष विजय' नाटक लिखा होगा, जिसे बाद में अंकीया नाटक कहा गया होगा।

3. गीत-गोविन्द की नृत्य-नाट और लीला-गान-परम्परा यात्रा नाटक का ही, श्रीमद्भागवत से भिन्न, नृत्य-वाद्य-संगीत से परिपूर्ण गीत गोविन्द विकसित रूप है। इसकी गेयता, संगीतात्मकता और मधुरता ने लोगों को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और इसका प्रभाव अनेक मन्दिरों पर पड़ा। साधु-संत-विद्वान भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रहे होंगे। स्पष्ट है कि अंकीया नाटककारों को भी अपनी रचना में इससे सहायता मिली होगी। फलतः अंकीया नाटकों के स्रोत यहाँ भी छिपे होने की संभावना ज्ञात होती है।

4. मध्यकालीन लोक नाट्य परम्पराएँ सम्पूर्ण भारत में लोक नाटक प्रचलित रहे हैं। बंगाल में **टप-कीर्तन** और **यात्रा नाटक**; मगध में **यम पट्टक**; भोजपुर में **पँवरिया** और **होली नृत्य**, मिथिला में **यात्रा** और **कीर्तनीया नाटक**; ब्रजमण्डल में **रस** और **धमार**; राजस्थान में **पड़**; गुजरात में **भवाई**; केरल में **कुट्टिट**; कर्नाटक में **यक्ष गान** आदि लोक नाटक के रूप में प्रचलित थे। इनमें यात्रा नाटक सर्वाधिक प्राचीन प्रतीत होता है। इसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। अंकीया नाटककारों ने इन लोक प्रचलित नृत्य-नाट्य शैलियों को अवश्य देखा होगा और इनके आधार पर अंकीया नाटकों की रचना की होगी।

5. स्थानीय लोक नृत्य-नाच-परम्परा असम में **पुतला**; धुलिया नाच, ओजापालि और **देरुधानी नाच** की सुदीर्घ परम्परा रही है। ओजापालि में सामूहिक गान के साथ-साथ अभिनय की भी स्थिति विद्यमान रहती है। असमिया साहित्य के कुछ विद्वानों ने ओजापालि से ही अंकीया नाटकों का प्रादुर्भाव माना है।¹⁵ डॉ. मागध

ने ओजापालि के साथ-साथ हासोन्मुखी संस्कृत नाटकों की परम्परा, मध्यकालीन विभिन्न लोकधर्मी नाटकों की परम्परा को अंकीया नाटकों के स्रोत के रूप में स्वीकार किया है।¹⁶

साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने उपरूपकों के अन्तर्गत **नाट्य रासक, श्री गदित और हल्लीस**¹⁷ की चर्चा की है, जिससे 'अंकीया' नाटकों का अनेकविध साम्य प्रतीत है।¹⁸ वस्तुतः यहाँ भी अंकीया नाटकों के स्रोत खोजे जा सकते हैं।

ऊपर विवेचित तथ्यों से स्पष्ट होता है कि असम में ओजापालि की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। श्रीमन्त शंकरदेव उस विधा से परिचित थे। उसी को उन्होंने परिष्कृत रूप में उपस्थित किया, जिसे अंकीया कहा जाने लगा। यहाँ यह स्वीकार कर लेना असंगत नहीं होगा कि शंकरदेव अपने भारत-भ्रमण में अनेक लोक नाटकों से परिचित हुए होंगे, जिनका उनके ऊपर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव भी पड़ा होगा, पर अंकीया नाटकों की रचना में महत्वपूर्ण भूमिका ओजापालि की तो है ही, साथ ही हासोन्मुखी संस्कृत नाटकों की परम्परा का भी योगदान स्वीकार किया जाएगा, क्योंकि उसी वजन पर अंकहीनता, रचना-कौशल तथा सूत्रधार के निर्माण हुए हैं। असमेतर प्रान्तों में जो अंकीया नाटकों की परम्परा मिलती है, उसके मूल में **यात्रा** या **कीर्तनिया** नाटकों का प्रभाव स्वीकार करना चाहिए। यहाँ **यात्रा नाटक** पर इषत् मात्रेण विचार कर लेना अधिक संगत होगा।

यात्रा नाटक यात्रा नाटक का प्रादुर्भाव कब से हुआ इस पर सटीक कुछ भी कहना कठिन ही नहीं दुष्कर भी है। अनेक विद्वानों के मत से यह स्पष्ट होता है कि खुले मैदान में अभिनय करने की शैली को **यात्रा नाटक** कहा जाता है। डॉ. दशरथ ओझा का कथन है कि 'कहीं एक सभा मण्डप निर्मित कर कम्बल, दरी अथवा चटाई बिछा दी जाती है, जिस पर दर्शकगण बैठ जाते हैं। सभा के मध्य में एक रंगभूमि बनाकर एक ओर पर्दा लटकाकर उसके पीछे प्रसाधन के निमित्त साज गृह बना लिया जाता है। साज गृह से रंगभूमि तक आने के लिए संकीर्ण मार्ग होता है। लकड़ी की कुर्सियों पर रेशमी या सूती वस्त्र डालकर सिंहासन बना लिया जाता है। यही सिंहासन नाटक में पात्र रूप में भाग लेनेवाले राजा, महाराजा अथवा धार्मिक देवताओं का आसन होता है।'¹⁹ इसमें अनेक कथाएँ सूचित कर दी जाती हैं और दर्शकगण को उसे मान लेना पड़ता है। यथा; किसी पात्र को मंच पर से जाना या आना। वस्तुतः वह पात्र मंच पर ही मौजूद रहता है, फिर भी उसके प्रवेश या बहिर्गमन की सूचना दे दी जाती है। दृश्य-परिवर्तन की भी सूचना ही दी जाती है।

यह संगीत-वाद्य प्रधान होता है। नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व संगीत आदि का आयोजन किया जाता है। उसी क्रम में नाटक की भूमिका भी प्रस्तुत कर दी जाती है। गेय पदों के साथ ही सब भाव व्यक्त किए जाते हैं। कहा जाएगा कि यह पद्धति जननाटकों या असाहित्यिक नाटकों की रही है। वस्तुतः **यात्रा नाटक** भी जननाटक ही है।

जब हम इसकी उत्पत्ति पर विचार-विमर्श करते हैं, तब पाते हैं कि इसका अटूट सम्बन्ध धार्मिक जुलूस से रहा है। इस दृष्टि से कोई इसका अर्थ जुलूस भी करना चाहे तो कर सकता है। डॉ. दशरथ ओझा का अनुमान सटीक लगता है, 'ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में देवोपासक गण अपने आराध्यदेव की प्रतिमा का जुलूस निकालते समय किसी-न-किसी प्रकार का अभिनय करते जाते होंगे और उस अभिनय विशेष का नामकरण '**यात्रा**' किया हो। ××× इस प्रकार देवोपासना के समय जुलूस से सम्बन्ध रखनेवाले नृत्य, संगीत और नाट्य सम्मिलित अभिनय की पद्धति **यात्रा** नाम से प्रचलित हुई हो।'²⁰ यह अनुमान आज भी वैसा ही है, बल्कि आज यह सिद्ध हो चुका है। आज भी भक्त अपने आराध्यदेव का जो जुलूस निकालते हैं, उसे **यात्रा** ही कहा जाता है। रथ यात्रा नाम आज भी प्रचलित है।

इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य है। कुछ विद्वानों ने इसके प्रादुर्भाव का समय वैदिक युग बतलाया है, तो कुछ लोगों ने उससे पूर्व और कुछ लोगों ने उसके बाद। इस प्रकार तीन स्थितियाँ सामने आती हैं **1. प्राग्वैदिक युग, 2. वैदिक युग और 3. वैदिकोपरान्त**। इसकी शैली और प्रयोग पर विचार करने से इसका प्रादुर्भाव-काल प्राग्वैदिक युग मानना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। ज्योंही इसका सम्बन्ध आराध्यदेव के जुलूस से स्थापित किया जाता है, त्योंही इसका प्रादुर्भाव मानव जाति के प्रारम्भिक काल से स्थापित हो जाता है, क्योंकि यहाँ के मूल निवासी ने अपने जीवन के प्रथम अध्याय से ही अपने आपको किसी-न-किसी देवता से अवश्य जोड़ा होगा और उसके लिए वाद्य-संगीत मिश्रित अभिनय के साथ जुलूस अवश्य निकाला जाता होगा, जिसे **यात्रा** कहा जाता होगा या किसी दूसरे नाम से पुकारा जाता होगा, जो कालान्तर में **यात्रा** के नाम से अभिहित हो गया होगा। इस कथन की पुष्टि डॉ. दशरथ ओझा²¹ और मि. ई. पी. हारविज²² भी करते हैं।

संस्कृत नाटकों पर विचार करते हुए डॉ. कीथ ने यह स्वीकार किया है कि भारतीय नाटकों का विकास वैदिक मंत्रों के संवादों से नहीं हुआ है, बल्कि **यात्रा नाटक से**²³। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही शक्ति-यात्रा, शिव-यात्रा, विष्णु-यात्रा, राम-यात्रा आदि प्रचलित रही हैं और इनसे संस्कृत नाटकों को विकसित होने का स्रोत अवश्य मिला होगा। न केवल ये संस्कृत नाटकों के ही स्रोत बने, बल्कि जननाटकों के भी। स्थान-काल एवं पात्र के अनुसार इन नाटकों में परिवर्तन कर इन्हें बोधगम्य एवं सरल भी किया जाता रहा होगा।

प्राचीन भाषा नाटक हों या भाषा नाटक या जननाटक इसकी प्रधान विशेषता रही है जनता का मनोरंजन करना और भाषा तथा नाट्य पद्धति में अभिरुचि पैदा करना। इस दृष्टि से ये नाटक पूर्णतः सफल रहे हैं। उनके अभिनय कौशल से लोगों में जो अभिरुचि पैदा होती थी, उससे साहित्यिक नाटकों को काफी बल मिलता होगा।

वस्तुतः इन नाटकों का मंचन यात्रा मण्डलियाँ स्थान-स्थान पर किया करती थीं, जिससे अनेक नाटककार प्रभावित हुए बिना नहीं रहते होंगे।

हमने पहले स्वीकार किया है कि साहित्यिक नाटकों के साथ-साथ या कदाचित् उससे भी पहले से जननाटक या लोकनाटक समाज में प्रचलित थे, जिनकी परम्परा कभी टूटी नहीं, बल्कि देश-काल के अनुसार परिवर्तित-परिवर्द्धित होती रही और विभिन्न अंचलों में वे किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रही हैं। अंकीया नाटककार ही नहीं, बल्कि अन्य नाटककारों को भी उससे प्रेरणा मिली होगी। अंकीया नाटककारों का सीधा सम्बन्ध इन प्रचलित नाटकों से मानना अधिक तर्कसंगत लगता है और अंकीया नाटकों का स्रोत भी इसे ही माना जाना चाहिए।

अंकीया नाटकों के वैशिष्ट्य जब हम अंकीया नाटकों के वस्तु-विधान और रचना-कौशल पर विचार करते हैं, तब उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ सामने आती हैं

1. सूत्रधार का नवीनीकरण
2. संगी का निर्माण।
3. गीतात्मकता।
4. भाषा।
5. लयात्मक गद्य (वृत्तागन्धी गद्य)।

1. सूत्रधार का नवीनीकरण अंकीया नाटककारों ने सूत्रधार की योजना संस्कृत नाटकों से ग्रहण की है अवश्य, पर उसे सर्वथा नवीन रूप में अपने नाटकों में नियोजित किया है। यहाँ आकर वह **कथावाचक**²⁴ हो गया है, संस्कृत नाटकों का सूत्रधार केवल 'नाट्यशाला का विधायक'²⁵ नाटक खेलने का प्रस्तावक होता है। उसके बाद वह मंच पर नहीं रहता, पर अंकीया नाटकों में वह मंच पर आद्योपान्त विद्यमान रहता है। वह कथा की व्याख्या के साथ-साथ पात्र परिचय, पात्रों के प्रवेश एवं बहिर्गमन की सूचना देनेवाला है। इस प्रकार वह गायक, नर्तक, परिस्थिति-व्याख्याता तथा अभिनय और मंच का विधायक होता है। सूत्रधार के कार्य-कलाप नीचे दिये जा रहे हैं

- (क) नान्दी और भट्टिमा के गायन के साथ-साथ मांगलिक नृत्य करनेवाला।
- (ख) संगी के साथ नृत्य करना, नाटक का नामकरण कर उसे मंचित करने का प्रस्तावक।
- (ग) अभिनय-दर्शन से किस फल की प्राप्ति होती है, उसकी घोषणा करनेवाला।
- (घ) पात्रों के प्रवेश का सूचक।
- (ङ) पात्र-परिचय देनेवाला।
- (च) परिस्थिति एवं घटना का व्याख्याता।
- (छ) संवाद-योजना में पात्रों को संकेत करना (यानी किस पात्र का कथन किसके बाद है की सूचना देनेवाला)।

(ज) मंच पर अदृश्य घटनावली का वर्णन करनेवाला।

(झ) मुक्ति मंगल भट्टिमा के साथ नाटक समाप्ति की घोषणा करनेवाला।

ऊपर विवेचित सूत्रधार की कार्यावली से यह ज्ञात होता है कि अंकीया नाटकों का सूत्रधार प्रेक्षक एवं अभिनेता के बीच मध्यस्थता का काम करता है। चरित्रों के चरित्रांकन को सरल बनाने में वह सहायक सिद्ध होता है। आधुनिक नाटकों में जो संकेत दिए जाते हैं, उस कार्य को अंकीया नाटकों में सूत्रधार सम्पादित करता है। इस तरह अंकीया नाटकों में सूत्रधार की भूमिका सर्वाधिक महत्त्व की होती है। इतना होते हुए भी अंकीया नाटकों में सूत्रधार का यह रूप विद्यमान नहीं रह पाता। लगता है अंकीया नाटककारों ने सोचा होगा कि इतना कष्टसाध्य कार्य एक व्यक्ति के लिए संभव नहीं हो पाता। इसलिए उसके स्वरूप में परिवर्तन कर दिया गया होगा और बाद के अंकीया नाटकों में केवल नान्दी पाठ, भट्टिमा और प्रस्तावना तक ही उसके कार्य सीमित कर दिए गए। कुछ अंकीया नाटकों में सूत्रधार बहिर्गमन का स्पष्ट संकेत भी मिलता है।

अंकीया नाटकों में सूत्रधार का जो स्वरूप मिलता है, उससे जनसाधारण को कथा-प्रवाह समझने में सुलभता प्राप्त होती है अवश्य, पर सहृदय विज्ञ प्रेक्षकों को नहीं। इसके निम्नलिखित कारण हैं

- (क) बीच में जिज्ञासा का समाप्त हो जाना।
- (ख) रसास्वादन में व्याघात उत्पन्न होना।
- (ग) संवाद योजना का शिथिल हो जाना।

इन कारणों से भी सूत्रधार का स्वरूप सीमित हो गया होगा।

2. संगी का निर्माण संस्कृत नाटकों में नटी का जो स्थान है, वही स्थान अंकीया नाटकों में संगी का। संगी के स्वरूप विधान की दृष्टि से संस्कृत नाटकों की नटी से अंकीया नाटकों का संगी किंचित् भिन्न है। नटी सूत्रधार की सहयोगिनी है और अंगी सूत्रधार का केवल अनुगामी। संस्कृत नाटकों में सूत्रधार और नटी में से कोई भी नाटक मंचित करने का प्रस्ताव करता है, पर अंकीया नाटकों में केवल सूत्रधार ही। इस नवीन उद्भावना से किसी प्रकार की रोचकता नहीं बढ़ी है। आलोच्य नाटकों का सूत्रधार संगी के साथ नृत्य-गीत, गायन-वादन करता है और वह प्रेक्षकों को सम्बोधित कर नाटक के मंचन का प्रस्ताव करता है।

3. गीतात्मकता अंकीया नाटकों की पूरी कथा संगीतमय है। उनका आदि और अंत तो गीत से होता है, बीच-बीच में गीतों के माध्यम से पूरी कथावस्तु को आगे ले जाया जाता है। डॉ. एस. एन. शर्मा ने ठीक ही कहा है कि यदि नाटकों की संवाद-योजना और कथासूत्र को छोड़ भी दिया जाए और केवल गीत-पयारों का पाठ किया जाए, तो भी नाट्य कथावस्तु के विकास में किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता है।

भाषा की दृष्टि से इन गीतों को दो भागों में विभक्त किया जाएगा **1. संस्कृत** और **2. ब्रजावली**। संस्कृत में जो श्लोक नाटक के प्रारम्भ में रखे गए हैं, उनमें नाटक की महत्वपूर्ण घटनाओं को समेटने की चेष्टा की गई है और उसकी व्याख्या ब्रजावली के गीत में। फिर इन गीतों को वस्तु-प्रतिपादन की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जाएगा। **1. भक्ति-प्रधान** और **2. घटना-प्रधान**। इन गीतों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है। उनमें भाव-प्रवणता, संक्षिप्तता, लयात्मकता, संवेदनशीलता आदि गुण विद्यमान हैं, जिनसे उनका साहित्यिक मूल्य भी आँका जा सकता है।

4. भाषा विवेच्य नाटकों की भाषा संस्कृत और ब्रजावली है। इनमें संस्कृत की अपेक्षा ब्रजावली का प्रयोग अधिक हुआ है। यहाँ हम ब्रजावली की प्रकृति पर संक्षेप में विचार करेंगे। यह भाषा तत्कालीन हिन्दी के बहुत अधिक समीप है, जिसमें असमिया, बांग्ला, उड़िया, चर्यापद की भाषाओं का भी पुट मिल जाता है। संस्कृत भाषा के साथ-साथ जनभाषा प्रारम्भिक काल से ही विद्यमान रही है। ब्रजावली जनभाषा रही है, जो अंचल विशेष के साथ-साथ बहुत दिनों तक प्रचलित रही। इस भाषा में धर्म-मूलक एवं उपदेश-मूलक ग्रन्थों की रचना से भी यही सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, इसमें नाटकों की रचना तो उक्त तथ्य को और अधिक विश्वसनीय बना देती है। इसके व्याकरण एवं वाक्य-रचना पर अनेक विद्वानों ने कार्य किया है अवश्य, किन्तु आज भी उनका भाषा शास्त्रीय अध्ययन करने की आवश्यकता चुकी नहीं है।

5. लयात्मक गद्य इन नाटकों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है उसके गद्य प्रयोग में। इसके पूर्व गद्य का रूप नहीं मिलता है। श्रीमंत शंकरदेव ब्रजावली के प्रथम साहित्यकार ही नहीं हैं, बल्कि प्रथम गद्यकार भी हैं। इनके गद्य ताल-लय युक्त हैं। इसे हम **वृत्तगंधी** गद्य कह सकते हैं। इन नाटकों के सूत्रधार एवं अभिनेता गद्यों का प्रयोग लयात्मक रूप में ही करते हैं। वाक्यों में अन्त्यानुप्रास या अनुप्रास की छटा तथा तदनु रूप शब्द-विन्यास इसे साधारण गद्य से विशेष बना देते हैं। यथा

(क) 'देख एहिखने दुष्ट द्विजक दर्प चूर करव ।'²⁶

(ख) 'गोपी सब काहु कृष्णक आलिंगि धरल । काहु पादपद्म काहु हस्तपंकज काहु बाहु कान्धे लैया शुङ्घय'²⁷ इत्यादि।

अस्तु, इस प्रकार हमने देखा कि अंकीया नाटकों का स्रोत किसी-न-किसी रूप में जननाटकों में विद्यमान है। इनकी भाषा पर विशद रूप से विचार करने की आवश्यकता आज भी बनी हुई है। ये नाटक आंचलिक साहित्य की जितनी महत्वपूर्ण निधि हैं, उससे कम हिन्दी की नहीं। इस दृष्टि से भी इस पर विशद रूप से विचार करने की आवश्यकता है। मेरा विश्वास है कि इन पर विश्लेषणात्मक रूप से विचार करने पर भावात्मक एकता की कड़ी बहुत अधिक मजबूत होगी।

सन्दर्भ सूची

1. Prof. Donald Clive Stuart 'The Development of Dramatic Art, Part-I.'
2. (क) 'पुरुरवा-उर्वशी-संवाद', 'ऋग्वेद' 10-95।
(ख) 'यम-यमी-संवाद', 'ऋग्वेद' 10-10।
(ग) 'इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद', 'ऋग्वेद' 10-86।
(घ) 'सरम-पाणिस-संवाद', 'ऋग्वेद' 10-108।
3. 'कात्यायन श्रौत-सूत्र' 7-8-25।
4. Max Muller's Version of the Rigveda, Vol. No. I, p. 173.
5. डॉ. दशरथ ओझा 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' पृ. 42 से उद्धृत।
6. पाणिनि 'अष्टाध्यायी' 4.4.110
7. वही, 4.3.111
8. डॉ. दशरथ ओझा 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', पृ. 48।
9. वही, पृ. 48 से उद्धृत।
10. वही।
11. डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', 'शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक', पृ. 428।
12. वही, पृ. 431।
13. वही, पृ. 429।
14. वही, पृ. 429।
15. (क) डॉ. सत्येन्द्रनाथ शर्मा, 'असमिया नाट्य साहित्य', पृ. 61
(ख) डॉ. महेश्वर नेओग 'शंकरदेव एण्ड हिज टाइम्स', पृ. 250-251।
16. डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', 'शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक' पृ. 435।
17. आचार्य विश्वनाथ 'साहित्य दर्पण', परि. 6 पृ.।
18. डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', 'शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक', पृ. 429।
19. डॉ. दशरथ ओझा 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', पृ. 52।
20. वही, पृ. 53।
21. वही।
22. "Even the Vedic age knew Jatras memorable heirloom of Aryan antiquity. The gods of Rigveda were hymned in choral Procession. Some of the Samveda hymns reached the rule mirth of the primitive Jatra dances." The Indian Theatre, p-178.
23. डॉ. कीथ, 'द संस्कृत ड्रामा', पृ. 16।
24. डॉ. धर्मदेव तिवारी, 'हिन्दी और असमिया के पौराणिक नाटक', पृ. 141।
25. डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', 'शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक', पृ. 444।
26. 'अंकीया नाट', सं. बिरंछि कुमार बरुवा, 'रामविजय नाट', पृ. 51।
27. वही, 'केलि गोपाल', पृ. 119।

बौद्ध खामती और उनकी रामायण

विजयराघव रेड्डी*

आदि कवि वाल्मीकि कृत संस्कृत रामायण की राम कथा भारत की सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में वर्णित है। उन भाषाओं के साहित्य की गौरव काव्य कृति के रूप में ही रामायण मान्यता प्राप्त नहीं है, अपितु विविध साहित्यिक विधाओं की भी वह शोभा बढ़ा रही है। लिखित साहित्य में ही नहीं, रामायण की गाथाएँ लोक साहित्य में भी प्रचुर मात्रा में गेय रूप में गाई जाती हैं। ये गाथाएँ लोक नाट्य-परम्परा के भी अंग बन गई हैं। सम्भवतः देश में ऐसा कोई-समाज (फोक सोसाइटी) नहीं होगा जिसमें रामकथा किसी-न-किसी रूप में विद्यमान न हो।

देश के पूर्वोत्तर भारत के जनजाति के लोग, जो चीनी-तिब्बती भाषा परिवार के अन्तर्गत तिब्बती-बर्मी शाखा की भाषाएँ बोलते हैं। इन्हीं को हमारे पुराणों में कि रात कहा गया है। पूर्वोत्तर भारत के राज्यों की आबादी में इनकी जन संख्या का प्रतिशत 30% तक है। इन जनजातियों की भाषाओं में रामायण कथा विद्यमान है। जैसेकावी भाषा की रामायण, जो 'साविन-आलुन' कहलाती है यह लगभग 2500 पंक्तियों में असमिया लिपि में लिपिबद्ध की गई है। इसी प्रकार खामती समाज में एक रामायण है जो चाक-चाओ-लामाड (श्रीराम काव्य) और चाओ-आलाड-लामाड (श्रीराम अवतार कथा) के नाम से विख्यात है। खामती भाषा ताई लिपि में लिखी जाती है। यह रामायण 12,678 पंक्तियों में अंकित है।

मध्य भारत के राज्यों में बसे जनजाति समुदाय के लोग जो आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार की मुण्डा शाखा की भाषाएँ बोलते हैं। इनको हमारे पुराणों में निषाद कहा गया है। मुण्डा लोकगीतों में सीता-जन्म और राम-सीता विवाह का विस्तार से वर्णन मिलता है। गुमला इलाके के आंजन गाँव हनुमान का जन्म स्थान माना जाता है तो अयोध्या इनकी भाषा में अजाइदन हो गया है। दक्षिण भारत के जनजाति के लोग। द्रविड़ परिवार की भाषाएँ बोलनेवाले इन जनजाति के लोग साहित्य में भी रामकथा प्रचार में हैं।

* डॉ. विजय राघव रेड्डी, पूर्व आचार्य, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा एवं पूर्व अध्यक्ष, आन्ध्र प्रदेश हिन्दी अकादमी, हैदराबाद।

मेच जनजाति असम में रहती है। उनके यहाँ रामायण कथा मौखिक रूप में प्रचलित है। इसी प्रकार मेघालय के वार खासी समुदाय जो मोनखेर शाखा की भाषा बोलते हैं, उसमें भी रामायण प्रचलित है। लेकिन इस अंचल में जितनी भी रामायण हैं, वे सब स्थानिक प्रभावों से प्रभावित के और वाल्मीकि रामायण से भिन्नता लिए हुए हैं।

पूर्वोत्तर भारत के जन-जातीय समुदाय में बौद्ध धर्म को माननेवालों की आबादी का प्रतिशत 13.13% माना जाता है। बौद्ध धर्म के अनुयायियों में महायान सम्प्रदाय एवं हीनयान सम्प्रदाय दोनों के अनुयायी हैं। जहाँ तक रामायण का सम्बन्ध है हीनयान सम्प्रदायी बौद्ध जनजातियों की भाषाओं में रामायण या राम कथा होने की जानकारी नहीं मिली है।

ताई भाषा में लिखित अहोमों की भी एक रामायण-पाण्डुलिपि के रूप में उपलब्ध है। लेकिन अभी तक उसका अध्ययन व अनुशीलन नहीं हो पाया है। अपने ग्रन्थ असम प्रान्तीय राम साहित्य में इस रामायण का उल्लेख करते हुए लेखक डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद मागध ने लिखा है कि ताई भाषा और लिपि के जानकार जब तक इसका अध्ययन नहीं करते तब तक इसके विषय में कुछ भी कहना असंभव है। ताई भाषा बोलनेवाले अहोमों ने बर्मा से आकर 1228 में असम पर आक्रमण किया। उन्होंने वहाँ अहोम साम्राज्य की स्थापना की। ये लोग बौद्ध थे। 18वीं सदी तक अर्थात् छह शताब्दियों तक अहोमों ने असम पर राज्य किया। बाद में बर्मा ने आक्रमण कर असम समेत लगभग सारे पूर्वोत्तर भारत को अपने कब्जे में कर लिया था। फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बर्मा से युद्ध कर इस इलाके को एक सन्धि के द्वारा अपने अधीन कर लिया था। बर्मियों के आक्रमण के कारण अहोमों के वर्चस्व का हास हुआ।

खामती जनजाति के लोग बौद्ध हैं। खाम का अर्थ स्वर्ण और ति का अर्थ देश होता है। इस प्रकार खामती का अर्थ हुआ स्वर्ण देश के लोग। खामती जाति अहोम की प्रशाखा मानी जाती है। इतिहास बताता है कि अहोम वंश के राजा राजेश्वर सिंह (1751-1769) के समय खामती लोगों ने बर्मा के रास्ते असम में प्रवेश किया। उस राजा की अनुमति पाकर 18वीं सदी के मध्य में अपर असम में तेंगापानी नदी के किनारे 'नामसून' स्थान पर खामती लोगों ने अपना प्रथम आवास बनाया था। इसके बाद से आगे के सौ साल तक खामती लोग कई दलों में आकर असम में बसते रहे। खामती रण बाँकुरे होते हैं। जब अहोम राज्य कमजोर पड़ गया तो उन्हें खामती लोगों की सहायता लेनी पड़ी थी। इसलिए तत्कालीन अहोम राजा ने 1793 में खामती के मुखिया चाउ-मु-मड-लुंग को सदिया प्रान्त के सुबेदार बनाया था। शीर्ष की दृष्टि से खामती सम्पन्न है। संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से भी वे अधिक सम्पन्न हैं। खामती भाषा की अपनी लिपि है जो ताई लिपि कहलाती है। खामती साहित्य समृद्ध

है। उसमें पिटक, जातक कथाएँ, रामायण, महाभारत एवं ऐतिहासिक दस्तावेजों का भण्डार है। अरुणाचल प्रदेश के चाङलांड जिले के 'खोमोड' स्थान पर जो सदिया के निकट है, 1969 में पुरातत्व विभाग के द्वारा जो खुदाई की गई उसमें से जो स्तूप, बुद्ध की प्रतिमाएँ आदि बहिर्गत हुए हैं। उनसे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि खामती संस्कृति, सभ्यता कितनी भव्य रही थी।

खामती रामायण की भी अपनी विशेषता है जो अन्य भाषाई रामायणों से भिन्न है। यह अभी पाण्डुलिपि के रूप में उपलब्ध है। डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद मागध के अनुसार लिक्-चाओ-लामाड (खामती रामायण) की एक बृहदकाय पाण्डुलिपि असम के उत्तर लखीमपुर जिले के नारायणपुर के बरखामती बौद्ध विहार में सुरक्षित है। पाण्डुलिपि में कुल 153 पत्र हैं। पत्रों का साइज 2'. 4" × 1'. 2" है जो हाथ से निर्मित है। पत्रों के दोनों तरफ पंक्तियाँ लिखी हुई हैं जो संख्या में 12,678 हैं। इसकी रचना कब हुई है, इसकी कोई जानकारी नहीं है। लेकिन इसकी प्रतिलेखन का काल 1960 अंकित किया गया है। चूँकि इस रामायण के कुछ प्रसंग माधव कंदली कृत पंचकांड रामायण (असमीया रामायण) एवं माधव देव कृत आदि काण्ड जो क्रमशः 1400 एवं 1560 के माने जाते हैं, से मिलते जुलते हैं, इसलिए डॉ. मागध का अनुमान है कि इस रामायण का रचना काल 1560 के बाद ही होगा। मेरे विचार में चूँकि खामती समुदाय का भारत में पहला प्रवेश 1751-1769 के मध्य माना जाता है, इसलिए लिक्-चाओ-लामाड की रचना 18वीं सदी की ही मानी जा सकती है।

चूँकि यह बौद्धों की रामायण है, इसका प्रारम्भ अन्य रामायणों से भिन्न तरीके से बुद्ध स्तवन "नमो तस्य भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्य" से हुआ है। अन्त में भी बौद्ध धर्म के उद्घोष त्रय "बुद्धम् शरणम् गच्छामि, धम्मम् शरणम् गच्छामि, संघम् शरणम् गच्छामि" से कहानी की परिसमाप्ति की गई है। यह रामायण काण्डों के स्थान पर अध्यायों में विभक्त है। इसमें कुल 35 अध्याय हैं। विभिन्न प्रसंगों-अध्यायों के आरम्भ एवं समाप्ति पर बुद्ध नीति एवं बुद्ध वचन कहे गए हैं। अनेक पात्र भी योग्य अवसर आने पर बुद्ध वचन का कथन और उपदेश करते दिखाई देते हैं। सारे पात्रों के नाम खामती भाषा उसके उच्चारण के अनुरूप है जैसे; तातसला था (दशरथ), कोसलेत हो-खाम (कौसल्या), नाडकेइके (कैकेई), सुमिकताला (सुमित्रा), चाओ-नालाता (नारद), लामाड (राम), लासामाड (लक्ष्मण), फालाता (भरत), छतारु (शत्रुघ्न), नाडसीता (सीता), सरायु (जटायु), पिक्सा मिक्त्रा (विश्वामित्र) इत्यादि।

इस रामायण के आरम्भ में यह उल्लिखित है कि एक बार भगवन बुद्ध अस्सी वर्ष की अवस्था में कुशी नगर के शाल-वन में शिष्यों के साथ विश्राम कर रहे थे। तब आनन्द ने उनसे प्रश्न किया, आपके पश्चात आलिमेतिया (आर्य मैत्रेय) बुद्ध होंगे किन्तु उनके पश्चात क्या होगा? क्या विश्व ब्रह्माण्ड शून्य हो जाएगा? उत्तर में

भगवान-बुद्ध ने बताया 5 हजार वर्ष पूरे होने पर बुद्ध शासन समाप्त हो जाएगा। पुनः बुद्ध नहीं होंगे। और वह शून्य-कल्प होगा। आगे उन्होंने कहा कि मंद कल्प में थाम्मा साका (धर्म संघ) होगा। उस समय दस बोधिसत्व होंगे। उसके पश्चात एक और बोधिसत्व होंगे जो चाओ-लामाड (श्रीराम) के नाम से जम्बू द्वीप में अवतरित होंगे। वे अभी तुषित लोक में परियों-अप्सराओं से घिरे हैं और 'चाओ पितु' के नाम से जाने जाते हैं। चाओ-लामाड बोधिसत्व के बारे में आनन्द द्वारा पुनः पूछे जाने पर ही भगवान बुद्ध ने उनकी सम्पूर्ण कथा अर्थात् रामायण आगे वर्णित की। इस प्रकार आनन्द और बुद्ध के प्रश्नोत्तर में चाओ-लामाड की कहानी (खामती रामायण) पूरी होती है।

ग्रंथकार ने, जिसका कहीं काम नहीं है, बताया कि उसने सुत्तपिटक के आधार पर यह रचना की है। लेकिन कहते हैं कि सुत्तपिटक में कोई बौद्ध राम कथा नहीं मिलती। लगता है कि वाल्मीकि रामायण तथा वाल्मीकीय रामायण परम्परा में बंगला में रचित कृत्तिवास रामायण तथा माधव कंदली रचित असमीया रामायण एवं असमीया भाषा में लिखी गई रचनाओं को आधार बनाकर ही किसी खामती बौद्ध ने खामती समाज के परिप्रेक्ष्य में इस रामायण की रचना की है। खामती समाज की अनेक रीति-नीतियों, लोक विश्वासों की झलक इसमें स्थान-स्थान पर मिलती है। जैसे श्रेष्ठ और श्रद्धेय जनों को फल-मूल इत्यादि का उपहार स्वरूप अर्पित करना, सात दिनों तक लगातार उत्सव मनाना, अलौकिक कथाओं और चमत्कारोत्पादक प्रसंगों आदि में खामती समाज की संस्कृति परिलक्षित होना। डॉ. मागध के मतानुसार खामती रामायण सही अर्थ में खामती समाज का दर्पण है।

खामती रामायण के वैशिष्ट्य को हम दो दृष्टिकोणों से परख सकते हैं। (1) उसमें अन्य भाषाओं की लोकप्रिय रामायणों में उपलब्ध कौन कौन-सी कथाएँ छोड़ दी गई हैं और (2) कौन कौन-सी नवीन उद्भावनाएँ इसमें हैं जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। इन दोनों में से कुछ नमूने के तौर पर निम्नांकित तालिका में दर्शाए गए हैं

(1) छोड़ दी गई कथाएँ	(2) नवीन उद्भावनाएँ जो जोड़ी गई
ताड़का वध, उहल्या उद्धार, चित्रकूट प्रसंग, अत्रि आदि अनेक ऋषियों के प्रसंग, खरदूषण-त्रिशरा वध, कबंध व विराध वध, शबरी पर राम की कृपा, वानरों द्वारा सीता का अन्वेषण, स्वयं प्रभा प्रसंग, संपाती प्रसंग।	सुमंत को राम द्वारा राज्य-सेवक विषयक उपदेश देना, सुग्रीव अभिषेक के पश्चात सीता अन्वेषण का वर्णन न कर राम का ससैनिक लंकापुरी के लिए प्रस्थान, सेतुबंधन के समय विशाल कान्याम (केंकड़े) का लात मार कर सेतुभंग करना, सीता के पाताल प्रवेश का वर्णन न कर उन्हें राजमहल में वापस लौटा लाना एवं उनका सुख शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करना।

खामती रामायण में काव्यात्मक अंश कम होने पर भी वर्णन चमत्कार अधिक है। रचना उपदेशात्मक और विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित है। इसके कथावाचक हैं स्वयं भगवान बुद्ध और श्रोता हैं आनन्द एवं अन्य शिष्य। लगता है कि कथावाचन के माध्यम से ग्रन्थकार बुद्ध वचन को सामान्य जन समाज में प्रचारित करना चाहता है। इसे हम मूल रूप से प्रचार धर्मी रचना कह सकते हैं।

प्रमुखतः खामती समाज के उपयोगार्थ एवं बुद्ध वचनों के प्रचारार्थ निर्मित होने पर भी यह रामायण खामती भाषा और साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि एवं बौद्ध राम साहित्य की बहुमूल्य कृति होने के साथ-साथ भारतीय भाषाओं के राम साहित्य में निस्संदेह एक अमूल्य कृति है।



¹ विजय विलासम, 3-13-1/10, श्रीनिवासपुरम, रामंतपुर, हैदराबाद-500 013

भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप का विकास

परमानन्द पांचाल*

भारत के संविधान के अनुच्छेद 343 (1) के अनुसार हिन्दी को भारत की राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसकी लिपि देवनागरी होगी। किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि, “संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होनेवाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप होगा।” इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में हिन्दी की लिपि तो देवनागरी होगी किन्तु अंक देवनागरी के न होकर अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के होंगे। प्रश्न उठता है कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय रूप में प्रचलित अंक प्रणाली मूल रूप में भारतीय ही है? इसका उत्तर खोजने के लिए हमें इतिहास में पीछे मुड़कर देखना होगा।

भारत और अरब देशों के व्यापारिक सम्बन्ध इस्लाम के अभ्युदय से भी बहुत प्राचीन हैं। प्राचीन काल में अरबों के व्यापारिक जहाज सीधे भारत के पश्चिमी तट के बन्दरगाहों पर आते थे और यहाँ से माल लेकर अरब और यूरोप के देशों तक जाते थे। उनके लिए व्यापार का लेन देन भारतीय अंकों में रखना ही सुविधाजनक रहता था। अरब और यूरोप के देशों में गणित का इतना विकास नहीं हुआ था। अरब वाले स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उन्होंने 1 से 9 तक के अंक लिखने का ढंग हिन्दुओं से सीखा¹ और इसीलिए अरब वाले अंको को ‘हिन्दसा’ और इस प्रणाली को ‘हिसाब हिन्दी’ या ‘हिन्दी हिसाब’ कहते हैं। आज उर्दू में भी इसीलिए अंकों के लिए हिन्दसा शब्द प्रचलित है। अमरी खुसरो (1253-1325) अपनी रचना नूह सपहर में भारत की महानता के पक्ष में जो दस तर्क प्रस्तुत करते हैं, उनमें चौथा तर्क यह है

“हुज्जते चहारुम रकमे हिन्दसः बीन,
कहले जहाँ वजअ न दीदन्द चुनीन।
हम व यकीं सपहर केह नक्शीत तेही
बीन चेह रमूजस्त च् हज्जीश देही।”

1 डॉ. परमानन्द पांचाल, राष्ट्रपति के पूर्व विशेष कार्य अधिकारी (भाषाएँ); पूर्व परामर्शदाता, इन्दिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय, सम्प्रति साहित्य अकादेमी के सदस्य तथा नागरी लिपि परिषद नयी दिल्ली के मंत्री हैं।

अर्थात् चौथा तर्क ‘इल्मे हिन्दसा’ (अंक विद्या) या अंकों को लिखने का ढंग है जिसका उदाहरण संसार में कहीं नहीं मिलता। केवल सिफर (शून्य) को ही लीजिए, यह मात्र एक चिह्न है किन्तु इसमें कितने रहस्य छिपे हैं। गणित ज्योतिष और ज्यामिति तथा अन्य विज्ञान इसके ऋणी हैं। ‘शून्य’ के अभाव में तो इनका अस्तित्व ही न हो पाता। इस प्रकार वे कहते हैं कि ‘हिन्दसा’ भारत की देन है और ‘शून्य’ का आविष्कार भारत में हुआ था, जिसके लिए विश्व भारत का ऋणी है। वेबस्टर की नवीन इन्साइक्लोपीडिया में भी कहा गया है कि यद्यपि प्राचीन मिस्र यूनान रोम और बेबीलोनिया सभी ने अंक प्रणाली का विकास किया था किन्तु शून्य का किसी ने भी नहीं। छठी शती के आसपास अरब के गणितज्ञों द्वारा इसे भारत से लाकर प्रचलित किया गया था।²

‘हिन्दसा’ शब्द ‘हिन्द’ और ‘असा’ से मिलकर बना है। ‘असा’ नाम का एक ब्राह्मण था जिसने अंक प्रणाली का परिचय अरबों को कराया था। उसी के नाम से ‘हिन्दसा’ शब्द का प्रचलन हुआ। इससे पता चलता है कि अंकों का प्रयोग भारत से ही अरब आदि देशों में गया था। यूरोपीय देशों में तो यह प्रणाली अरब देशों से गई थी। इसलिए यूरोप के देशों में इन्हें ‘अरबी अंक’ Arabic numerals कहा जाता है, जबकि अरब वाले इन्हें हिन्द से गए मानते हैं। विश्व के सभी गणित शास्त्री इन अंकों को ‘हिन्दु अरेबिक’ अंकों के नाम से अभिहित करते हैं। जी.एफ. हिल नामक गणितज्ञ ने भी अपने ग्रन्थ ‘The Development of Numerals in Europe’ में इसकी पुष्टि की है। मेसोपोटेनिया के सिवेरस सिबारेन्ट नामके एक पादरी द्वारा ईसा की सातवीं शताब्दी के मध्य में लिखी गई गणित की एक पुस्तक में सबसे पहले इनका प्रयोग मिलता है। लगभग इसी काल में भारतीय ज्योतिष और गणित का प्रवेश भारत से अरब के देशों में हुआ था। वहीं से यह स्पेन के रास्ते यूरोप के देशों में पहुँचा था।

मध्य पूर्व के देशों में इस्लाम के प्रचार के साथ बगदाद शिक्षा और ज्ञान का एक महान केन्द्र बन गया था, जहाँ अरब, यूनान, ईरान, मिस्र यहूदी तथा अन्य देशों के विद्वान परस्पर विचार विनिमय के लिए एकत्रित होते रहते थे। सन् 771 ई. में भारत से भी विद्वानों का एक शिष्टमंडल मंसूर के दरबार में बगदाद गया था। उसके साथ एक भारतीय पण्डित गणित ज्योतिष की एक पुस्तक जिसका नाम ‘बृहस्पति सिद्धान्त’, था अपने साथ ले गया था। उसका वहाँ ‘अससिंद हिन्द’ के नाम से अरबी में अनुवाद किया गया। उसी से भारतीय अंक प्रणाली वहाँ प्रचलित हुई। मौ. सैयद सुलैमान नदवी भी इसकी पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि, “मेरी समझ से ठीक बात यह है कि जिस ‘सिद्धान्त’ का अनुवाद हुआ था, उसी के तेहरवें और चौबीसवें प्रकरण में गणित और अंकों का उल्लेख है और उसी से यह ढंग अरबों में चला था।”³

अरबी में पहले अक्षरों में संख्याएँ लिखते थे। फिर यहूदियों और यूनानियों की भाँति 'अ, ब, ज, द' के ढंग से (अर्थात् अ = 1, ब = 2, ज = 3 और द = 4) संख्याएँ लिखने लगे। अब भी अरबी ज्योतिष में संक्षिप्त और शुद्ध लिखने के लिए यही पद्धति प्रचलित है। इसी आधार पर 'बिस्मिल्लाउर्रहमान रहीम' लिखने के लिए केवल 786 ही लिखना पर्याप्त माना जाता है। रोमन सभ्यता में रोमन लिपि के अक्षरों द्वारा संख्याएँ बताई जाती थी। आज भी रोमन अंक उसी प्रकार प्रचलित हैं जैसे I, II, III, IV, V आदि। इसमें यदि 313 लिखना हो तो तीन बार सौ (C) का चिह्न और फिर दस (X) का तथा तीन बार एक (I) का चिह्न बनाना पड़ेगा जैसे CCCXIII। यह पद्धति जटिल थी। भारतीयों ने 1 से 9 तक प्रत्येक अंक के लिए चिह्न निश्चित कर लिए। जैसा ऊपर कहा गया है 'शून्य' का आविष्कार भी सर्वप्रथम भारत में हुआ जो गणित शास्त्र में एक महान उपलब्धि मानी जाती है। संख्याओं को अंकों द्वारा अभिव्यक्त करने, शून्य लगाकर इनका दस गुणा मान बढ़ाने तथा इकाई दहाई आदि स्थानों के मान निर्धारित करने की गणित शास्त्रीय पद्धति सबसे पहले भारत में निकली, जो अरबों के माध्यम से अन्य देशों में जाकर अन्तर्राष्ट्रीय रूप में प्रचलित हुई थी। यह एक माना हुआ ऐतिहासिक तथ्य है। इसे ही दशमलव प्रणाली कहा जाता है।

अरब में भारतीय अंकों के सबसे पहले प्रयोग का श्रेय मुहम्मद बिन मूसा ख्वारिज्मी (780-840 ई.) को जाता है उसी ने भारतीय हिसाब को अरबी साँचे में ढाला।⁴ यही रूप अन्दलुस के मार्ग से यूरोप पहुँचा। यूरोप में गणित की एक शाखा को Algorithm, Algoritims, Algorism कहते हैं। ये सब इसी अलख्वारिज्मी के बिगड़े हुए रूप हैं। अलख्वारिज्मी के अरबी ग्रन्थ का लगभग 1120 ई. में एडेलॉर्ड ऑफ बाथ ने लैटिन में अनुवाद किया, जिसका नाम है, 'Liber Algorismi De Numero Indorum'। इस पुस्तक ने यूरोप और इंग्लैण्ड में इन अंकों को फैलाया। इन्हीं भारतीय अंकों को 'हिसाबुल गुब्बार' भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि हिन्दू लोग बच्चों को जमीन या धूल पर अंक लिखना अर्थात् धूलि कर्म सिखाते थे। इसीलिए इन्हें 'हिसाबुल गुब्बार' कहा जाने लगा। गुब्बार का अर्थ है धूल। यूरोप के अंक इन्हीं गुब्बारी अंको से निकले हैं। अलबेरूनी भी इसी मत का समर्थन करता है।⁵ अरब में अंकों का दो प्रकार से विकास हुआ। पश्चिमी अरब में गुब्बारी प्रणाली का विकास हुआ जिसका प्रचलन यूरोप के देशों में फैला और पूर्वी अरब के देशों में अरबी ने जो अंक प्रणाली अपनाई वही आज भी प्रचलित है।

इससे स्पष्ट है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय कहे जानेवाले अंक अरब के नहीं बाहर के हैं। इसका एक कारण यह भी है कि अरबी लिपि की लेखन प्रणाली के ठीक विपरीत ये अंक बाएँ से दाएँ लिखे जाते हैं।

अलख्वारिज्मी के बाद मुसलमानों ने भारतीय गणित का प्रचार करनेवाला दूसरा व्यक्ति अली बिन अहमद नसवी (980-1940 ई.) है जिसने 'अलमुकन्नअ फिल हिसाबिल हिन्दी' नामक पुस्तक लिखी। कहा जाता है कि प्रसिद्ध हकीम और दार्शनिक बू अली सैना (1015 ई.) ने बचपन में यह भारतीय हिसाब एक कुंजड़े से सीखा था। इससे पता चलता है कि भारतीय गणित सर्वसाधारण में चल पड़ा था। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के खण्ड 19 में दिए गए वर्णन से पता चलता है कि हिसाब रखने का यह ढंग भारत से चलकर अरब के रास्ते किस प्रकार यूरोप पहुँचा।⁶

यूरोप में इस प्रणाली के विलम्ब से पहुँचने पर पश्चाताप करते हुए 'प्रिस ऑफ मैथेमेटिक्स' अर्थात् गणित के राजकुमार कहे जानेवाले कार्ल फ्रेड्रिक गौस ने कहा था कि ईसा पूर्व की तीसरी शती में आर्शीमिदस भारतीय अंक प्रणाली का पूर्वानुमान नहीं कर सका, नहीं तो विज्ञान कितना विकसित हो गया होता।

भारत की प्राचीन लिपि ब्राह्मी में, जिससे भारत की प्रायः सभी भाषाओं की (उर्दू को छोड़कर) लिपियाँ निकली हैं, अन्तर्राष्ट्रीय अंकों का प्रयोग मिलता है। श्री कलानाथ शास्त्री के अनुसार ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के नानाघाट के शिला लेखों में 2, 4, 6, 7 और 9 अन्तर्राष्ट्रीय अंक ही प्रयुक्त पाए गए हैं। नासिक की गुफाओं में ईसा की पहली और दूसरी शती के शिला लेखों में 2, 3, 4, 5, 6, 7 और 9 के अन्तर्राष्ट्रीय अंक मिले हैं। इसी प्रकार 250 ई. पू. के अशोक के शिला लेखों में भी 1, 4 और 6 अंक अन्तर्राष्ट्रीय रूप में प्रयुक्त हैं। कालान्तर में भारतीय भाषाओं के अंकों में परिवर्तन होता गया। देवनागरी के अंक भी प्राचीन ब्राह्मी लिपि के अंकों का ही विकसित रूप हैं।

यहाँ पर यह बताना भी अप्रासांगिक न होगा कि हिन्द महासागर में स्थित मालदीव गणराज्य की भाषा 'दिवेही' में तो संख्याओं को बोलने का ढंग भी हिन्दी से मिलता जुलता है। दोनों देशों की संख्याओं के उच्चारण में अद्भुत साम्य है।

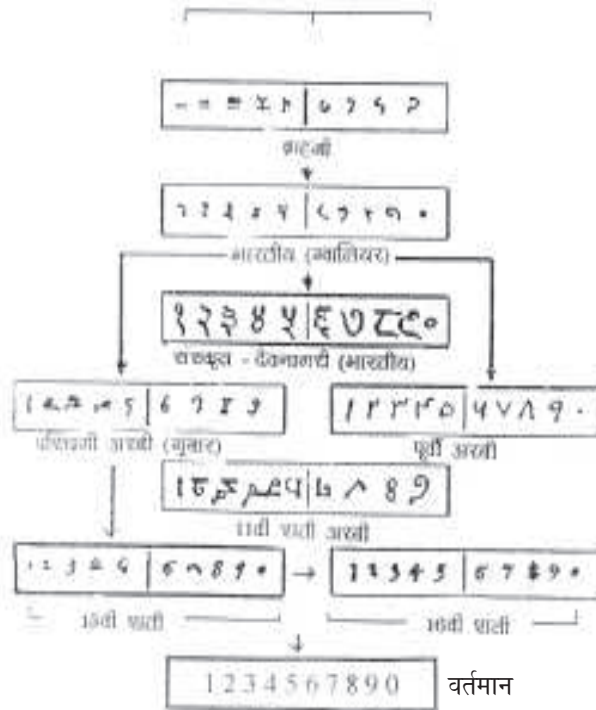
इन तथ्यों के आधार पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आज अन्तर्राष्ट्रीय रूप में प्रचलित अंक भारतीय अंकों का ही रूप है जो भारत से ही विदेशों में गए थे और जिन्हें अब भारतीय संविधान में राजभाषा हिन्दी के लिए स्वीकार किया गया है।

सन्दर्भ

1. तारीखुल् अतविया, खण्ड-2, पृ.-35 (मिस)
2. The ancient Egyptians, Greek, Roman and Babylonian all evolved number system, although none had a zero which was introduced from India by way of Arab mathematicians in about the 6th century A.D.—Page-818 Western's New world Encyclopædia, 1992,
3. अरब और भारत के सम्बन्ध : मौ. सय्यद सुलेमान नदवी पृ. 109

4. तबक़ातल उम्मा साइद अन्दलसी, पृ. 14 (बेरूत)
5. Al Beruni reported that the Hindus frequently performed computations in the sand and his statement suggests a possible origin—Collier's Encyclopedia Vol. 8, Page-13.
6. Thus use of zero and the use of Western Arabic (Gobar) numerals spread throughout Europe in the 10th Century principally by the effort of Gerbert, who later on became Pope Sylwester II.—The New Encyclopedia Britannica, Vol. 16.

भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप का विकासक्रम



¹ 232-ए, पॉकेट-1, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110 091

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhah Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

कौशिकीकच्छ में पल्लवित बांगला साहित्य

बच्चा यादव*

पूर्णिमा की धरती सुदूर अतीत से लेकर आज तक सारस्वत साधना की धरती रही है और इस धरती पर सतत साहित्य का सृजन होता रहा है। सरहपा, मुल्ला दाउद, मौलवी किफायत, राजा कमलानन्द सिंह, केदार नाथ बन्द्योपाध्याय, बंकिमचन्द्र लाहिड़ी, सतीनाथ भादुड़ी, पूर्णचन्द्र राय, बलाईचन्द्र मुखोपाध्याय 'बनफूल', तोफा लाल झा, जयगोविन्द महाराज, अनूप लाल मण्डल, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', डॉ. लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु', फणीश्वरनाथ रेणु जैसे साहित्यकारों ने यहाँ की मिट्टी की गन्ध से अपनी रचनाओं को सुवासित किया है, इस मिट्टी के रस से उन्हें सरस बनाया है, इसके इन्द्रधनुषी रंगों से रंगकर उन्हें सौन्दर्य प्रदान किया है और इस मिट्टी से स्पर्श कराकर उनमें प्रभावोत्पादकता लाए हैं।

भूगोल के आइने में कल का पुरैनियाँ आज कई खण्डों में बँटा दिखता है, पर साहित्य के आइने में इसका अखण्डित रूप आज भी यथावत् दिखाई पड़ रहा है। यहाँ के मनीषियों और साहित्यकारों ने भूगोल के इन टुकड़ों को एक साथ पिरोकर एक ऐसा पुष्पमाल तैयार कर दिया है कि हर टुकड़ा माला के एक पुष्प की तरह नजर आता है। अतः पूर्णिमा अब कोई भौगोलिक नाम नहीं, बल्कि एक साहित्य का नाम हो गया है।

मैं अपने इस आलेख में वाङ्मय तपस्वियों की इस साहित्य प्रसविनी धरती के सिर्फ बांगला साहित्य और साहित्यकारों से परिचय कराने का प्रयत्न कर रहा हूँ। समय, सूचना और संसाधन के अभाव में तथा मेरे अज्ञान के कारण सम्भव है कुछ साहित्यकारों का नामोल्लेख न हो सके, तो इसके लिए मैं अग्रिम ही क्षमा याचना करना चाहूँगा।

पूर्णिमा की प्रकृति और प्राकृतिक दृश्य बहुत ही चमत्कारिक है। यहाँ की मिट्टी की खासियत है कि यह रचनाकारों को बाँधती है और यही कारण है कि आदिकाल से ही यहाँ साहित्य-रचना और सहित्य-चर्चा स्वाभाविक नियमानुसार चलती आ रही है।

* पूर्वोत्तर बिहार के साहित्य के अध्येता एवं लेखक।

बीसवीं शती के आरम्भ में बांगला साहित्य में सत्य और निष्ठा के साथ ग्राम्य जीवन की पृष्ठभूमि को लेकर पदार्पण करनेवाले शक्तिशाली व्यक्तित्व के धनी रचनाकार शरत्चन्द्र आज से लगभग सौ साल पूर्व पूर्णिमा के बनैली स्टेट में बतौर अमीन नौकरी करने पधारे थे। निश्चय ही उन्होंने यहाँ से सँजोये कच्चा माल एवं अनुभवों को अपनी रचनाओं का पाथेय बनाया होगा।

पूर्णिमा बांगला साहित्य के अपने दो उज्ज्वल नक्षत्रोंकेदारनाथ बन्द्योपाध्याय एवं सतीनाथ भादुड़ीपर गौरवान्वित हैं। इन दोनों व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर यहाँ बहुत से साहित्यकारों का पदार्पण हुआ और कई महत्वपूर्ण आयोजन यहाँ आयोजित हुए।

दादा मोसाय (केदारनाथ बन्द्योपाध्याय, जन्म 15 फरवरी 1863/मृत्यु 29 नवम्बर 1949) ने विपुल मात्रा में अनुपम साहित्य का सृजन किया है, जिसमें उनके वैचित्रपूर्ण जीवन एवं अनुभव सर्वत्र प्रतिबिम्बित हैं। उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं यथाउपन्यास, कहानी, कविता, यात्रा विवरण आदि की रचना की है। उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं

आई हैज, कोष्ठिर फलाफल, भादुड़ी मोसाय, शेष खेया (उपन्यास), **आमरा की ओ के, कबूलती; दुखेर दीवाली, पाथेय, मा फलेषु एवं पावना** (कहानी संग्रह), **उड़ो खेई, काशीर किंची, विपथनीक जेले** (काव्य संग्रह) आदि। बांगला साहित्य जगत् में केदार बाबू का स्थान काफी ऊँचा है। केदार बाबू जब तक जीवित रहे, उनके आवास पर हर शाम निश्चित रूप से साहित्यिक मजलिस जमती थी, जिसमें भाग लेनेवालों में सतीनाथ भादुड़ी, हरिदास गुहा, पूर्णचन्द्र राय आदि महत्वपूर्ण नाम हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन (वाराणसी), प्रमथनाथ बिशी, प्रख्यात विद्वान धूर्जटि प्रसाद (लखनऊ) आदि की केदार बाबू से घनिष्ठता थी और उनके जीवनकाल तक इन लोगों का पूर्णिमा आना-जाना लगा रहा। यहाँ के साहित्यिक आयोजनों में बांगला साहित्य जगत की महत्वपूर्ण हस्तियाँ जैसे ताराशंकर बन्द्योपाध्याय, मनोज बसु, गजेन्द्र कुमार मित्र, सुनीति चटर्जी आदि भी आते रहे।

पूर्णिमा वासी राय बहादुर ज्योतिष चन्द्र भट्टाचार्य विद्यालंकार का एक उपन्यास 'तपति' प्रकाशित है। वे बांगला के अतिरिक्त फ्रेंच, अंग्रेजी तथा संस्कृत के भी आधिकारिक विद्वान् थे।

वर्तमान कटिहार जिला के मनहारी में प्रतिष्ठित डॉक्टर सत्यचरण मुखोपाध्याय के पुत्र बलाईचन्द्र मुखोपाध्याय 'बनफूल' का जन्म 19 जुलाई 1899 ई. में हुआ था। जब ये प्रवेशिका के छात्र थे, तभी इनकी पहली कविता 'मालंच' नामक पत्रिका में सन् 1915 ई. में छपी थी। इनकी प्रथम औपन्यासिक कृति 'तृणखण्ड' 1935 ई. में प्रकाशित हुई थी। इस उपन्यास के लिए उन्हें **कपिला भट्टाचार्य सम्मान** से सम्मानित किया गया था। फिर तो उनकी कलम ने कभी विश्राम नहीं किया और **अग्निश्वर, वैतरणी तीरे, मानसपुर, नीरंजना, नवीन दत्त, एरा ओ आछे, भुवनसोम,**

महाराणी, हरिश्चन्द्र, डाना आदि उपन्यास, **श्री मधुसूदन, विद्यासागर** नाटक, **पश्चात् पट** (आत्म कथा) आदि लगभग सभी विधाओं में उन्होंने अपनी कलम चलायी है। बांग्ला साहित्य में व्यंग्य कवि के रूप में इनकी बड़ी ख्याति है। बांग्ला नाट्य साहित्य में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान है।

विषयों के चयन में बनफूल को महारत हासिल था। वे मानव जीवन को समग्रता में देखते थे। भेद-भाव, छल-छद्म, छूत-अछूत में उनका विश्वास नहीं था। मनुष्य को मनुष्य के रूप में जीवन को जीवन के रूप में चरितार्थ होना वे पसन्द करते थे और यही कारण था कि बनफूल एक जनप्रिय लेखक थे और इसीलिए सम्पादक उन्हें रवीन्द्रनाथ ठाकुर जी से अधिक पारिश्रमिक देकर छापते थे।

बनफूल की लगभग डेढ़ दर्जन कृतियों पर फिल्में बनी हैं यथा **मन्त्रमुग्ध (विमल राय, 1949), मानदण्ड (चन्द्रा देवी), द्वैरथ (रतन चट्टोपाध्याय, 1950), एकटि रात (चित्र बसु, 1956) किछु क्षण (अरविन्द मुखोपाध्याय, 1959), वर्न चोरा (अरविन्द मुखोपाध्याय, 1963), आरोही (तपन सिंह, 1964), आलोर पिपासा (अरुण मजूमदार, 1965), अर्जुन पण्डित (हृषीकेश मुखोपाध्याय, 1965), हाटे बाजारे (तपन सिंह, 1970), भुवन सोम (मृणाल सेन, 1970), अग्निश्वर (अरविन्द मुखोपाध्याय, 1975), मन्त्र मुग्ध (अरविन्द मुखोपाध्याय, 1977), पाका देखा (अरविन्द मुखोपाध्याय, 1980), तिलोत्तमा (दीनेन गुप्त, 1978), ओ छोकरी (शुभंकर घोष, 1996)** आदि।

इनके उपन्यासों एवं कथाओं का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। 'स्वप्न सस्तव' उपन्यास का अंग्रेजी अनुवाद (1961) स्वयं बनफूल ने किया था। **भुवन सोम** का अंग्रेजी अनुवाद (1971 में) लीला राय ने किया था। **दूई पथिक (हमराही / राजपाल एण्ड कम्पनी, 1950), भुवन सोम (शिकारी, 1966)**, तथा **मानदण्ड (राजपाल एण्ड कम्पनी, 1962)** के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त **मानदण्ड, द्वैरथ** तथा **वैतरणी तीरे** का **गुजराती** में, **मानदण्ड** और **रात्रि** का **तेलगू** में तथा **निर्भोक, भुवन सोम, मानदण्ड** एवं **अठारह कहानियों के मलयालम** में अनुवाद हो चुके हैं। जीवन काल में ही उन्हें कई पुरस्कारों एवं सम्मानों से नवाजा गया, जिनमें प्रमुख हैं शरत् स्मृति पुरस्कार एवं पदक (कोलकाता विश्व विद्यालय द्वारा, 1951), सुरेशचन्द्र स्मृति पुरस्कार (आनन्द बाजार पत्रिका द्वारा, 1960), **हाटे बाजारे** उपन्यास के लिए रवीन्द्र पुरस्कार (1960), जग तारिणी पदक सम्मान (कोलकाता विश्वविद्यालय एवं विश्व भारती द्वारा, 1967), कुमार विश्वनाथ स्वर्ण पदक (कोलकाता विश्वविद्यालय द्वारा, 1972), भागलपुर एवं यादवपुर विश्वविद्यालय द्वारा सन् 1973 ई. में डी. लिट. की मानद उपाधि तथा सन् 1975 ई. में भारत सरकार द्वारा **पद्म भूषण** की उपाधि। ऐसे स्वनामधन्य रचनाकार बनफूल का निधन कोलकोता स्थित उनके निवास पर 9 फरवरी 1979 ई. को हुआ।

पूर्णियाँ के अन्यतम पुरोध पुरुष सतीनाथ भादुड़ी (जन्म 27 सितम्बर 1906, मृत्यु 30 मार्च 1965) की साहित्यिक ख्याति असाधारण है। आत्म-प्रचार से सर्वथा विमुख इस रचनाकार की प्रतिभा असाधारण थी। इनकी '**जागरी**' और '**ढोढ़ाय चरित मानस**' ने तो बांग्ला साहित्य के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। ये दोनों ही उपन्यास न सिर्फ बांग्ला बल्कि हिन्दी पाठकों के बीच भी काफी समादृत हैं। **जागरी** के लिए उन्हें प्रथम रवीन्द्र पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। इस उपन्यास का अंग्रेजी-अनुवाद लीला राय ने '**दि विजिल**' नाम से किया था, जिसका प्रकाशन '**यूनेस्को**' से हुआ था। यह विशेष उल्लेखनीय इसलिए भी है कि इससे पूर्व किसी भी बांग्ला उपन्यास का अनुवाद यूनेस्को द्वारा प्रकाशित नहीं हुआ था। सतीनाथ भादुड़ी ने उपन्यास के अतिरिक्त बहुत ही सार्थक लघुकथाएँ, प्रबन्ध, ललित निबन्ध, नाटक तथा कविताएँ भी लिखी हैं। जैसे-जैसे समय गुजर रहा है सतीनाथ जी का मूल्यांकन और महत्व साहित्य जगत में बढ़ता ही जा रहा है। प्रसिद्ध आलोचक अतुल चन्द्र गुप्त ने '**देश**' पत्रिका में सन् 1946 ई. में '**जागरी**' पर प्रकाशित अपने आलोचनात्मक लेख में उल्लेखनीय टिप्पणी की थी, उसे यहाँ सन्दर्भित करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ, द्रष्टव्य है ".....लेखक की और कोई रचना मैंने नहीं पढ़ी है, नाम भी नहीं सुना था, किन्तु एकवारगी लेखक के प्रथम प्रयास में जड़ता का कोई चिह्न कहीं नहीं दिखता है। रचना सर्वत्र सशक्त है और नवीनता में झलमल (चमक) कर रही है, यह निपुण शिल्पी के हाथ की सृष्टि। देश काल की गिनती से परे साहित्य में उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में अवतीर्ण हुआ है। बांग्ला साहित्य के इस नवीन शक्तिशाली लेखक का मैं अभिवादन करता हूँ। वयस से नवीन है या नहीं नहीं जानता। आश्चर्य है इस उपन्यास से लेखक के मन का जो परिचय मिलता है, वह अद्भुत है। शुभकामना करता हूँ उनकी साहित्यिक सृष्टि अवाध गति से अग्रसर हो।"

पूर्णियाँ के आन्तरिक जीवन और चरित्र पर केन्द्रित इनका '**ढोढ़ाय चरित्र मानस**' उपन्यास भी काफी चर्चित रहा। इसके अतिरिक्त '**चित्रगुप्तेर फाइल**', '**अचिन रागिनी**', **संकट, दिकभ्रान्त** आदि उपन्यासों, **गणनायक, अपरिचिता; चकाचकि, पत्रलेखार बाबा, आलोक दृष्टि, सती भ्रमण काहिनी**, (कहानी संग्रह) आदि के साथ ही वे नाटक, वैचारिक लेखों, कविताओं के लिए भी चिरस्मरणीय रहेंगे। सतीनाथ भादुड़ी का फ्रेंच भाषा पर भी काफी दखल था। लगभग दो वर्षों तक यूरोप में रहकर तथा वहाँ के गाँवों में घूम-घूमकर वहाँ के जन मानस के साथ मिलकर उन्होंने काफी जानकारियाँ एकत्र की थीं; जिसका उपयोग उन्होंने 'सति भ्रमण काहिनी' में किया है। इनके दो उपन्यासों '**जागरी**' एवं '**ढोढ़ाय चरित्र मानस**' तथा कुछ कहानियों का हिन्दी में अनुवाद हुआ है। 'जागरी' का हिन्दी अनुवाद पूर्णियाँ कालेज पूर्णियाँ के अंग्रेजी विभाग के तत्कालीन प्राध्यापक नारायण प्रसाद वर्मा ने किया था

तथा 'ढोढ़ाय चरित्र मानस' का हिन्दी अनुवाद मधुकर गंगाधर ने सन् 1974 ई. में किया था।

कथाकार विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय सम्भवतः 1924 से 1930 ई. तक पूर्णियाँ कचहरी में केश-मुकदमों के सिलसिले में आते रहे थे। पूर्णियाँ की मिट्टी-पानी और यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य ने उन्हें इस तरह मोहित किया कि वे न सिर्फ रचनारत हुए बल्कि उन्होंने '**पथेर पांचाली**' नामक अपनी औपन्यासिक कृति के माध्यम से बांगला उपन्यास-साहित्य में एक नया मोड़ दिया। उनका चर्चित उपन्यास '**आरण्यक**' तो बिल्कुल पूर्णियाँ की पृष्ठभूमि पर ही केन्द्रित है। **विचित्रा** के सम्पादकलेखक उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय पूर्णियाँ कचहरी में वकालत करते थे। **व्योमकेश** के स्रष्टा शरदिन्दु बन्द्योपाध्याय का जन्म तो पूर्णियाँ स्थित '**गोविन्द धाम**' नामक मकान में हुआ था। पढ़ाई-लिखाई पूरी कर वे पूर्णियाँ में ही वकालत करते थे। '**स्वामी-शिष्य संवाद**' ग्रन्थ के प्रणेता शरत्चन्द्र चक्रवर्ती, जो स्वामी विवेकानन्द के बहुत ही प्रिय शिष्यों में से एक थे; काफी दिनों तक पूर्णियाँ के डाकघर में कार्यरत रहे थे।

स्वाधीनता पूर्व के दो गीतों का उल्लेख करना समीचीन होगा। पहला गीत '**अन्न दे गो, अन्न दे गो / क्षुधार ज्वालार प्राण दे जाय**', असम के बाढ़ पीड़ितों के कल्याण हेतु लिखा और गाया गया था और पूर्णियाँ की सड़कों एवं गलियों में गा-गाकर चन्दा इकट्ठा किया गया था और दूसरा गीत '**बिनाशी तिमिरे दूर कोरि तारे / ज्ञानेर प्रदीप ज्वालि**' को हिन्दू-मुसलमान एकता के लिए जुलूस में गाया गया था। इन दोनों गीतों के गीतकार थे स्व. पूर्णचन्द्र राय। उस वक्त राय जी का घर साहित्य संगीत का केन्द्र हुआ करता था। प्रतिदिन सन्ध्या समय उनके निवास पर गोष्ठी जमती और साहित्य-संस्कृति एवं अन्य सामाजिक मुद्दों पर चर्चाएँ-परिचर्चाएँ हुआ करती थीं और इसमें भाग लेते थे अमूल्य गांगुली, प्रफुल्ल गांगुली, मिलन भादुड़ी जतीन भादुड़ी, डॉ. विभूति मुखोपाध्याय, स्व. ज्योतिष भट्टाचार्य, स्व. राखाल देव, शैलेश दत्त गुप्त, सत्य रंजन सरकार, हरिदास गुहा आदि।

अररिया वासी बंकिम चन्द्र लाहिड़ी अपनी पुस्तक **महाभारत मंजरी** के लिए पुराने साहित्यकारों के बीच एक चर्चित नाम हैं। उनकी यह पुस्तक आज से 80 वर्ष पूर्व 1331 बंगाल (सन् 1924 ई.) में प्रकाशित हुई थी। इसके पूर्व भी उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित एवं प्रशंसित हुई थी, यथा **अकबर महान, हिन्दू-मुस्लिम धर्म विवेचना, वीर केशरी, नेपोलियन बोनापार्ट** आदि।

मनिहारी वासी भोलानाथ मुखोपाध्याय (बनफूल के अनुज / जन्म फरवरी, 1901, मृत्यु नवम्बर 1973 ई.) बांगला साहित्य के चर्चित रचनाकार थे। इनकी कई प्रकाशित पुस्तकों में से एक है **दन्तरुचि कौमुदी**। इनके सम्बन्ध में बनफूल ने कहीं लिखा है कि "वह इतना अच्छा लिखता था कि उसे पढ़कर मुझे जलन होती थी।" आगे चलकर वे स्वतंत्रता आन्दोलन में जुट गए और उन्हें कारावरण भी करना पड़ा। इस तरह उनकी लेखनी बाधित हो गई।

बुजुर्ग साहित्यकारों में हरिदास गुहा (जन्म 21 अगस्त, 1915) की रम्य रचनाओं से उनके कौतुकप्रिय मन का बिम्ब साफ झलकता है। श्री गुहा आज नब्बे वर्ष की अवस्था में भी सक्रिय रहकर नवोदित साहित्यकारों के लिए प्रेरणा स्रोत हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कथाकार, **मैला आंचल, परती परिकथा, जुलूस**, आदि प्रसिद्ध कृतियों के रचयिता फणीश्वरनाथ रेणु (जन्म 4 मार्च 1921 ई., मृत्यु 11 अप्रैल 1977 ई.) यद्यपि हिन्दी क्षेत्र के अग्रणी कलमकार हुए किन्तु बांगला साहित्य में भी उनकी गहरी पैठ थी। बांगला में उनकी पहली रचना सतीनाथ भादुड़ी पर ही केन्द्रित थी। उनकी कहानियों, निबन्धादि का प्रकाशन तो बांगला में हुआ ही है, इनकी कई कृतियों का बांगला में अनुवाद भी हुआ है। अनूपलाल मण्डल (हिन्दी उपन्यासकार) के भी बांगला भाषा एवं साहित्य पर केन्द्रित कई लेख प्रकाशित हैं।

पूर्णचन्द्र राय की पुत्रवधू उमा राय (जन्म 1924 ई., मृत्यु 9 मई 1986 ई.) मूलतः कवियित्री थी। इनकी कविताएँ एवं कहानियाँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में खूब छपती थीं। सतीनाथ भादुड़ी जैसे रचनाकार उनकी कहानियों के प्रशंसक थे। ये सच्चे अर्थ में एक समाज सेविका भी थीं। धर्म, जात-पात, छुआछूत आदि संकीर्णताओं से खुद तो मुक्त थी ही, पास-पड़ोस की महिलाओं को भी इन भावनाओं से मुक्त कराकर उनमें मानव प्रेम एवं सौहार्द की भावना भरती रहती थी। अतः आज भी उनके चाहनेवालों के मन में उनकी याद फीकी नहीं पड़ी है।

कानाई गांगुली (जन्म 13 अप्रैल, 1934 ई., मृत्यु 25 नवम्बर, 1984 ई.) के लेख निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। खासकर रम्य रचनाएँ (ललित निबन्ध) और संस्मरण लिखने में वे सिद्धहस्त थे। पूर्णियाँ से प्रकाशित **अर्थ्य** एवं **कौशिकी** में इनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं।

कानाई गांगुली के अनुज एवं बैंक कर्मी सुबल गांगुली भी बांगला साहित्य में एक चर्चित नाम हैं। वे लगातार विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लिखते-छपते रहे। सतीनाथ भादुड़ी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर केन्द्रित एक पुस्तक '**सतीनाथ स्मरणे**' का सम्पादन सुबल गांगुली ने ही किया था।

कविता तथा रम्य रचना के क्षेत्र में तपेश्वर मुखोपाध्याय को भी हम नहीं भुला सकते हैं। ये जिला स्कूल पूर्णियाँ में शिक्षक हुआ करते थे। कुछ वर्ष हुए वे दुर्गापुर (प. बंगाल) के एक उच्च विद्यालय में प्राचार्य बने और सेवा निवृत्ति के पश्चात् कोलकाता के समीप डानकुनी में बस गए हैं। वे एक अच्छे गीतकार भी हैं और उनकी एक कविता पुस्तक भी प्रकाशित थी, जो अब दुष्प्राप्य है।

पूर्णियाँ खजौंची हाट वासी प्रफुल्ल कुमार राय की दर्जनाधिक्य रचनाएँ प्रकाशित हैं। इनके कई उपन्यासों एवं कहानियों पर फिल्में भी बनी हैं।

कटिहार में अधिकांश बंगालियों का आगमन रेलवे तथा जूट मिल में नौकरी करने अथवा रोजगार तलाशने के क्रम में हुआ और इस तरह वे यहाँ बसते भी गए

और इन्हीं लोगों के द्वारा यहाँ बांगला साहित्य सृजन और साहित्य चर्चा के दीप को प्रज्वलित रखने का प्रयास भी जारी रहा। इस क्रम में कटिहार के साहित्य-सेवियों में प्रथम उल्लेखनीय नाम सुरेन दास जी का है। नरेन्द्र देव, काजी नजरूल इस्ताम आदि कवियों के साथ सुरेन दास जी की बड़ी घनिष्टता थी और इन्हीं लोगों के साथ इनकी भी कविताएँ **प्रवासी** नामक पत्रिका में बराबर छपा करती थीं।

कटिहार वासी प्रकृति प्रेमी कवि कल्याण सेन गुप्त का जन्म कटिहार में सन् 1929 ई. में हुआ था। उनके कवि जीवन की शुरुआत 1949 ई. में हुई थी। इसी वर्ष उनकी पहली कविता 'देश' मासिक पत्रिका में छपी थी। कवि कल्याण सेन का शहर के सांस्कृतिक जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था। कटिहार के प्रवासी बंगालियों के सत्प्रयास से 1357 साल में 'वहनि' नामक एक साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ था, जिसके संयुक्त सम्पादक कल्याण सेन गुप्त थे। बाद के वर्षों में कटिहार से ही एक और साहित्यिक पत्रिका '**पुनर्नवा**' का सम्पादन प्रकाशन भी कवि कल्याण सेन ने किया था, जिसमें कवि सेन के प्रेसीडेंसी कालेज के छात्र जीवन के साथी कवियों-लेखकों यथाकवि वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, बटकृष्ण दे, आलोक रंजन दासगुप्त, आलोक सरकार, अरुण भट्टाचार्य, सुनील गंगोपाध्याय, नचिकेता भारद्वाज, पूर्णेन्दु प्रसाद भट्टाचार्य आदि छपते थे। मध्य वर्गीय जीवन एवं अर्थाभाव के कारण इनका काव्य जीवन एवं पठन-पाठन नियमित नहीं रह सका। अन्ततः उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में प्रतिष्ठा के साथ स्नातक किया। अंग्रेजी साहित्य में असाधारण दखल एवं प्रतिभा के कारण ही इन्हें एम.ए. की डिग्री नहीं रहने पर भी कालेज में व्याख्याता नियुक्त किया गया। सत्तर के दशक में इनकी कई कविताएँ मिथिला विश्वविद्यालय के बांगला भाषा की पाठ्य तालिका में सम्मिलित कर उनकी काव्य प्रतिभा को स्वीकृति दी गई थी। कवि कल्याण सेन की मृत्यु 57 वर्ष की अवस्था में सन् 1986 ई. में हुई। मरणोपरान्त इनकी कविताओं के दो संग्रह क्रमशः **आबार रूपोलि जलधारा** (सम्पादक : शंख घोष) तथा **कवितार दिन** (1992) का प्रकाशन हुआ है। **देश** पत्रिका के स्वर्ण जयन्ती विशेषांक में **बांगला कविता का पचास वर्ष** की आलोचना में प्रणव कुमार मुखर्जी एवं कल्याण सेनगुप्त की काव्य-कृतियों की विस्तृत चर्चा की गई थी।

रेलवे के सांख्यिकी विभाग में कार्यरत (कटिहार वासी) तुषार गांगुली मूलतः कथाकार थे। इनकी अनेक लघु कथाएँ 1965-70 ई. तक लगातार **नवकल्लोल** तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं।

कवि सुरेन दास के पुत्र फाल्गुणी दास भी कथा एवं उपन्यास लेखन के क्षेत्र में सिद्धहस्त थे। इनका एक उपन्यास '**दिन बदोलेर पाला**' सुरभि प्रकाशनी से प्रकाशित है। इनके ही समकालीन देवेन्द्र मैत्र रेलवे में गार्ड हुआ करते थे। उन्होंने अपने कर्म जीवन को केन्द्र में रखकर '**अप ट्रेन, डाउन ट्रेन**' नामक उपन्यास लिखकर प्रकाशित किया था।

पूर्णियाँ वासी स्व. प्रसाद भट्टाचार्य ने विपुल मात्रा में उपन्यास, कथा और नाटकों की रचना कर बांगला भारती के भण्डार को समृद्ध किया है। इनकी प्रकाशित रचनाओं में **नीड़ भाँगा झड़, गान गये जाय पृथिवीर, मिथिले मिशे आछे जारा, पिछुन ताकिये देखि, तीर भाँगा देउ**, (यह हिन्दी में अनुदित है), **मानमयी बयाज हॉस्टेल, जलेर चेये घनो, ऐकटि बुद-बुद, बन्या एलो बंगाय, आर्त्तनाद, इहाय सत्तो, भूले गेयेछि तोमाके** आदि हैं, जिसमें मानमयी बयाज हॉस्टेल तो काफी चर्चित है।

पूर्णियाँ के ही एक और सुलेखिका डॉ. मंजुली घोष (स्व.), जो एल. एस. कालेज मुजफ्फरपुर में प्राध्यापक थी, की कई रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। इनका शोध प्रबन्ध '**हिन्दी की नई कविता और कुछ कवि**' आनन्द पुरस्कार से सम्मानित है।

किशनगंज के प्रो. परिमल लाहिड़ी (अररिया के स्व. बंकिमचन्द्र लाहिड़ी के पौत्र) की कई रचनाएँ **देश** तथा अन्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। दो वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु हो गई।

नितिन बन्द्योपाध्याय की कविताएँ लघु पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संगीत विधा पर केन्द्रित इनकी एक पुस्तक '**संगीत**' (हिन्दी में) प्रकाशित है जो प्रवेशिका स्तर पर बांगला एवं हिन्दी के संगीत-पाठ्य-क्रम में सम्मिलित है। रवीन्द्र संगीत में इन्हें पाण्डित्य हासिल है तथा दूर-दूर तक इस विधा में इनकी दक्षता चर्चित है।

अनन्त गोपाल दत्त बांगला भारती की सेवा लगातार कर रहे हैं। बांगला में इनके चार नाटक तथा पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ एवं कविताएँ प्रकाशित हैं। हिन्दी, मैथिली, सूर्यापुरी एवं अंग्रेजी में भी इनकी अच्छी पकड़ है तथा इनमें इनकी रचनाएँ भी प्रकाशित हैं।

चर्चित कथाकार बनफूल के भ्रातृ-पुत्र उत्पल मुखर्जी ने सेवा निवृत्ति के पश्चात पूर्णियाँ को ही अपना कर्मभूमि बना लिया है। वे एक सहृदय कवि एवं सुवक्ता हैं।

आलोराय एक प्रतिभासम्पन्न कवि हैं। साहित्य का संस्कार इन्हें विरासत में मिला है। इनकी सैकड़ों कविताएँ एवं लघुकथाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। अब तक इनकी कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हैं। '**जलज आलपना**' इनकी फरवरी 99 से मई 99 तक की कुल 50 कविताओं का संकलन है। इनकी कविताओं का दूसरा संग्रह '**संगोपन मरुघान**' (18 कविताओं का संकलन, दिसम्बर 2002) प्रकाशित है। इसके पूर्व कोलकाता से सुभाष सेन गुप्त द्वारा सम्पादित लघु पत्रिका '**अपरिचित**' का एक अंक श्री राय की कविताओं पर ही केन्द्रित था। श्री राय साहित्य का सृजन तो करते ही हैं साथ ही साहित्यकारों का भी सृजन करते रहे हैं। 90 के दशक में इनके निवास पर प्रति शनिवार की सन्ध्या में एक गोष्ठी जमती थी

जिसमें नवोदित साहित्यकार (युवक, युवतियाँ) अपनी रचनाओं के साथ भाग लेते थे और उन रचनाओं पर जमकर चर्चाएँ होती थीं। बात महज चर्चा भर की नहीं थी, उन नवोदितों की रचनाओं को लेकर श्री राय 'पारिजात' नामक लघु पत्रिका निकालते थे। इस पत्रिका के दो अंकों की जानकारी मुझे है; शायद और भी अंक निकले हों। श्री राय सम्प्रति 'एई परवास' नामक (बांगला) पत्रिका का सम्पादन-प्रकाशन कर रहे हैं। इस आलेख को लिखे जाने तक इस पत्रिका के पाँच अंक निकल चुके हैं।

चित्रा देव (पूर्णियाँ) की पुस्तक 'ठाकुर बाड़ीर अन्दर महल' बांगला की एक चर्चित रचना है। इन्होंने प्रेमचन्द की दो पुस्तकों का बांगला में अनुवाद किया है। सम्प्रति ये 'आनन्द बाजार' कोलकाता से सम्बद्ध हैं।

पेशे से इंजीनियर किन्तु हृदय से सुकवि विश्वजीत राय की उत्कृष्ट कविताएँ एवं लघु कथाएँ अर्घ्य, बोनसाई, पारिजात, 'एई परवास' आदि पत्र-पत्रिकाओं में लगातार छप रही हैं। वे बहुत ही ऊर्जावान एवं सम्भावनावान कवि हैं।

अजय सान्याल एक जाने-माने कवि एवं निबन्धकार हैं। इनकी सैकड़ों कविताएँ, निबन्ध, संस्मरणादि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। इन्होंने पूर्णियाँ से प्रकाशित कई पत्रिकाओं एवं स्मारिकाओं का सम्पादन भी किया है। वे विगत दो वर्षों से पटना से प्रकाशित बिहार बंगाली समिति की चर्चित पत्रिका 'संचिता' के संयुक्त सम्पादक हैं।

कटिहार वासी रेल कर्मी दिलीपचन्द का नाट्य रचना के क्षेत्र में उल्लेखनीय नाम है। इनके द्वारा रचित मौलिक नाटकों में प्रमुख हैं **मंत्री, रक्तेरुआ धान, भात पुराणेर पाला** आदि। रामकृष्ण मठ मिशन, कटिहार के संन्यासियों में स्वामी चण्डिकानन्द ने भक्ति संगीत रचना के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है, वहीं स्वामी पराशरानन्द की कई प्राबन्धिक रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। रामकृष्ण मिशन विद्या मन्दिर के प्राक्तन सहायक प्रधानाध्यापक माधुर्यमय मित्र द्वारा रचित संगीत एवं कविताएँ 'साधन संगीत' एवं 'उद्बोधन' नामक पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त दर्शन साह महाविद्यालय कटिहार के बांगला विभाग के अध्यापक डॉ. अजय कुमार बन्द्योपाध्याय का शोध प्रबन्ध 'शरदिन्दु बन्द्योपाध्याय : जीवन व साहित्य' तथा इसी विभाग की पूर्व अध्यापिका रानू सान्याल द्वारा रचित 'शिव ठाकुरेर आपोन देशे' महत्वपूर्ण प्रकाशित पुस्तकें हैं।

परवर्ती काल में कटिहार के कुछ उत्साही नवयुवकों द्वारा **अन्तरंग** नामक द्विमासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिसके सम्पादक द्वय थे अतिशय चक्रवर्ती एवं शैवाल नाग। बिहार बांगला अकादमी के सदस्य तथा रामकृष्ण मिशन विद्या मन्दिर के सहायक शिक्षक जयन्त घोष इस पत्रिका को नियमित रूप से रचनात्मक सहयोग दिया करते थे।

अंकन राय ने शास्त्रीय संगीत में शान्ति निकेतन से स्नात्कोत्तर किया है, किन्तु साहित्य में भी इनकी गहरी रुचि है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनके लेखादि प्रकाशित हैं। सम्प्रति अपने संगीत क्षेत्र की व्यस्तताओं के बावजूद 'एई परवास' के सम्पादन सहयोग एवं प्रकाशन से गहरे रूप में जुड़े हुए हैं।

कौशिकीकच्छ (पूर्णियाँ) में बांगला-साहित्य की सेवा में इनके अतिरिक्त सतत क्रियाशील लोग हैंजयति गुहा, गोपाल पोद्दार, संदीप गुहा, सव्यसाची मजूमदार आदि। नवोदितों में कुहेली, सोमा पाल, रिम्पी दास, संपा दास आदि चर्चा में हैं।

पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के क्षेत्र में भी पूर्णियाँ प्रमण्डल का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सन् 1925 ई. में पूर्णियाँ से 'पूर्णियाँ दर्पण' नामक पत्रिका तीन भाषाओंक्रमशः हिन्दी, बांगला एवं अंग्रेजी में एक साथ छपकर निकलती थी। 'पूर्णियाँ दर्पण' के प्रधान सम्पादक पी. सी. सेन बार एट.लॉ, हुआ करते थे। सत्येन्द्र नाथ राय चौधरी अधिवक्ता, अंग्रेजी, अशर्फी लाल वर्मा हिन्दी तथा प्रबोधचन्द्र भट्टाचार्य बांगला भाग का सम्पादन किया करते थे। अंग्रेजी शासन के विरोध में लिखने-छापने के कारण सन् 1930 ई. में यह पत्रिका एवं प्रेस जब्त कर लिया गया।

भट्टा, पूर्णियाँ के कुछ उत्साही युवकों ने सम्भवतः मार्च 1927 ई. में 'काल बैशाखी' नामक पत्रिका निकाली थी (पूर्णियाँ दर्पण, 18 अप्रैल, 1927), जो कुछ वर्षों तक चलने के बाद बन्द हो गई।

शिशिर चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित 'फसल' हस्तलिखित वार्षिक पत्रिका थी। यह पत्रिका दस वर्षों तक निकलने के बाद बन्द हो गई। इसके कुछ मुद्रित अंक भी निकले थे। इस पत्रिका में अमूल्य लाहिड़ी, शान्ति रंजन गांगुली (लेखक एवं चित्रकार; जापान सरकार के खर्च पर वहाँ जाकर कला/आर्ट पर उन्होंने काफी काम किया। बाद में भारत लौटे तो बनारस में बस गए।) आदि लिखते-छपते थे। पूर्णियाँ से निकलनेवाली 'वैकाली' भी एक हस्तलिखित पत्रिका थी। सात अंकों तक निकलने के बाद यह पत्रिका बन्द हो गई।

बिहार बांगाली समिति के पूर्णियाँ शाखा के तत्वावधान में आज से लगभग 20-22 वर्ष पूर्व प्रकाशित होनेवाली **कौशिकी** एक वार्षिक साहित्यिक पत्रिका थी, जिसका हर अंक संग्रहनीय होता था। वर्तमान समय में इसका प्रकाशन बन्द है। डॉ. अजय कुमार डे, आलोक भट्टाचार्य, हरिदास गुहा, नितीन्द्र नाथ बन्द्योपाध्याय, पीयूष मुखर्जी, शिउली सान्याल, मीनाक्षी मैत्र आदि इस पत्रिका से जुड़े थे।

अजय सान्याल के सम्पादन में सम्भवतः 'निष्ठक' नामक हस्तलिखित पत्रिका निकली थी। सन 1976 से 1978 तक मुद्रित होकर निकलनेवाली **अर्घ्य** एक महत्वपूर्ण त्रैमासिक पत्रिका रही। इस पत्रिका से आलोराय, अजय सान्याल, पीयूष मुखर्जी एवं राजकुमार मुखर्जी गहरे रूप से जुड़े थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजकुमार मुखर्जी कोलकाता के निवासी थे और यहाँ बैंक ऑफ बड़ौदा में कार्यरत थे।

किन्तु पूर्णियाँ के साहित्यिक माहौल ने उन्हें प्रभावित किया फलतः यहाँ के साहित्यिक विकास में इनका भी सराहनीय योगदान रहा था। **अर्घ्य** का मापदण्ड था उसकी उन्नत छपाई एवं स्तरीय रचनाएँ। **अर्घ्य** पत्रिका के तत्वावधान में पूर्णियाँ एवं कटिहार में कई साहित्यिक गोष्ठियाँ आयोजित हुई थीं। इस पत्रिका के माध्यम से पूर्णियाँ दुर्गाबाड़ी परिसर में एक लघु पत्रिका प्रदर्शनी का आयोजन हुआ था, जिसकी काफी चर्चा थी। **अर्घ्य** को कुछ उल्लेखनीय पत्रों यथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पत्र दादा मोसाय के नाम, नजरूल की अप्रकाशित चिट्ठियाँ, गुरुदेव की हस्तलिखित कविताएँ, ताराशंकर बन्द्योपाध्याय, धूर्जटि प्रसाद मुखोपाध्याय द्वारा दादा मोसाय के नाम पत्र आदि को छापने एवं प्रकाशित करने का श्रेय प्राप्त है।

भट्टा दुर्गा बाड़ी पूजा समिति, पूर्णियाँ के तत्वावधान में जून, 1988 से लगातार लगभग पाँच वर्षों तक निकलनेवाली **बोनसाई** एक **दिवाल मासिक पत्रिका** थी। यह पत्रिका भट्टा दुर्गाबाड़ी एवं इन्दुभूषण लाईब्रेरी में टाँगी जाती थी इस पत्रिका में प्रकाशित रचनाएँ एवं इसका अलंकरण उत्कृष्ट होते थे। स्थानीय हिन्दी, उर्दू एवं बांगला भाषा के लेखकों की रचनाएँ एवं चित्रकारी से सुसज्जित इस पत्रिका का सम्पादन अजय सान्याल एवं स्वरूप कुमार दास करते थे। दुर्गा पूजा के मौके पर इसका वार्षिक संकलन मुद्रित होकर निकलता था। इस पत्रिका का हर अंक संग्रहणीय था।

पूर्णियाँ की मिट्टी में हमारे पूर्वजों ने जो साहित्य का बीज वपन किया था, वह आज एक विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हो चुका है, जिसके पालन-पोषण का दायित्व अब हमारे ऊपर है। हम सबको समेकित रूप से इस दायित्व का निर्वहन करना होगा, क्योंकि 'एकाकी गायकेर न हे ये गान'। आज राष्ट्रीय शिक्षा नीति, अर्थ नीति एवं कुछ सामाजिक कारणों से वर्तमान पीढ़ी को बांगला भाषा सीखने से वंचित किया जा रहा है, वर्तमान पीढ़ी क्रमशः बांगला साहित्य एवं संस्कृति के प्रति उदासीन नजर आ रही हैं। हाँ, कुछ लोग हैं, जो काफी प्रयत्न से और लगातार बांगला भाषा एवं संस्कृति को पुनर्जीवित करने की दिशा में अथक प्रयास कर रहे हैं और उन्हें इस दिशा में अपेक्षित सफलता भी मिल रही है। हिन्दी भाषी बुद्धिजीवियों, साहित्य-संस्कृति कर्मियों का भी यह दायित्व बनता है कि हिन्दी की यह सहोदरा बांगला भाषा न सिर्फ पूर्णियाँ बल्कि सम्पूर्ण राज्य एवं देश में फले-फूले, विकास करे इसके लिए हर सम्भव प्रयास करें।

वस्तुतः लेखक, पाठक, साहित्य संस्कृति कर्मियों और सुभैषियों के समेकित प्रयास से ही पूर्णियाँ (कौशिकीकच्छ) के इस सुदीर्घ एवं पुरातन साहित्य परम्परा को इतिहास की दौड़ में अग्रिम पंक्ति में रखा जा सकता है और तभी इस विशाल वटवृक्ष की छाया की परिधि हिमालय से कन्याकुमारी तक विस्तार पा सकेगी।

Dialogue :
Quarterly English Journal of
Astha Bharati, Delhi

22nd issue already published

Published Special Numbers:

Illegal Migration from Bangladesh
Central Asia

Fiscal Mismanagement in North East India

Maoist Insurgency in Nepal and India

India: Security Dimensions,

Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip

South-East Asia

Secularism: India in Labyrinth

India's Neighbourhood

Governance in the North-East

Policing in India

India and Central Asia

Forthcoming Issues:

Population Issues

Indo-Pakistan Relations

लोक-विज्ञान तथा साहित्य-साधना

डॉ. विष्णुदत्त शर्मा

भौतिक जीवन और साधना के विकास में विज्ञान, यांत्रिकी, तकनीक, सभी का समावेश होता है। भारतवर्ष एक ऋषिप्रधान देश रहा है। अतः भारतीय परिव्राजक (Saint Scientist) आश्रमों में रहकर साधना करते, अनुसंधान करते और लोक-साहित्य की रचना करते थे। यही कारण है कि प्राचीन समय में विज्ञान-साधना के फलस्वरूप जो आर्ष साहित्य का सृजन हुआ उसका फल आज हम सभी चख रहे हैं। उस समय सम्भवतया विज्ञान-साधना के आधार पर लोक-साहित्य ही सृजित होता था।

सामान्य रूप से प्राचीन भारत के विषय में और भारतीय जीवन के मूलभूत दृष्टिकोण के बारे में अंग्रेजों का दृष्टिकोण यही रहा है कि भारतीयों के लिए अध्यात्म ही जीवन का उद्देश्य है और जीवन-दर्शन का आधार है। वस्तुतः अंग्रेजों के इस दृष्टिकोण में एक स्वार्थ था कि भारतीयों को इस भ्रम में रखें कि उनका मूल क्षेत्र अध्यात्म ही है। इसके अतिरिक्त भारतीयों की विचारधारा नास्तिक भी है और आस्तिक भी। आस्तिक विचारवाले व्यक्ति धर्मशास्त्रों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण के लिए “धार्मिक भावनाओं को टेस” की संज्ञा देते हैं तथा नास्तिक इस धार्मिक साहित्य को पढ़ने का कष्ट ही नहीं करते, अतः ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन एवं प्रसार का प्रश्न ही नहीं उठता था।

हमारे ऋषि-महर्षियों की भाषा संस्कृत थी। संस्कृत भारतवर्ष की अपूर्व महिमाशालिनी भाषा है। उसका साहित्य विपुल है। उसका साधन गहन है एवं उसका उद्देश्य साधु है। इसके साहित्य का अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में हुए हैं। इस प्रकार हमारे प्राचीन साहित्य में ज्ञान का जो विपुल भंडार है उससे पाश्चात्य विद्वान लाभ उठा रहे हैं, अपनी चहुँमुखी प्रगति कर रहे हैं परन्तु खेद है कि हम भारतीय ज्ञान बटोरने और तलाश करने के लिए विदेशी भाषाओं की अनूदित पुस्तकों से लाभ उठाने का प्रयास करते हैं।

डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव जी द्वारा संपादित पुस्तक ‘लोक-विज्ञान तथा

* महासचिव, शोध प्रकाशन अकादमी, 5/48, वैशाली, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.)

साहित्य-साधना’ नामक समीक्ष्य पुस्तक में विद्वान वैज्ञानिक डॉ. श्रीवास्तव जी ने साहित्यिक निबन्धों का संपादन कर एक सराहनीय कार्य किया है क्योंकि उन्होंने विद्वान साहित्यकारों के विचार हिन्दी-विज्ञान साहित्य के साथ संकलित किए हैं। इन साहित्यकारों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि अभी भी कुछ इने-गिने साहित्यकार ऐसे हैं जिनमें अहंकार नहीं है। वे हिन्दी-विज्ञान लेखकों को अपने समकक्ष समझने का प्रयास कर रहे हैं।

समीक्ष्य पुस्तक पढ़ने पर पाया गया कि उसमें हिन्दी साहित्य के झंडावरदार, जो समाज में अपने आपको उच्च कोटि के साहित्यकार कहलाने का दावा करते हैं, द्वारा रचित कोई भी निबन्ध नहीं है। ऐसे साहित्यकार हैं जो हिन्दी-विज्ञान साहित्य में पर्याप्त योगदान दे सकते हैं। किन्तु ये हिन्दी-विज्ञान लेखकों को साहित्यकार नहीं मानते और न ही विज्ञान साहित्य को पसन्द करते हैं कारण स्पष्ट है कि इनकी विज्ञान में रुचि ही नहीं। यहाँ तक कि उपर्युक्त कुछ स्वयंभू साहित्यकारों के पास मैंने अपनी कुछ कृतियाँ सम्मानार्थ भेजी भी किन्तु ये इतने विद्वान हैं कि शिष्टाचार के नाते न धन्यवाद दिया और न टिप्पणियाँ ही भेजी और यह कहकर पल्ला झाड़ लिया कि ‘समय ही नहीं मिलता’। वैसे ये झंडावरदार पुस्तकों के चयन में निर्णायक मण्डल की भूमिका निभाते हैं।

डॉ. श्रवण कुमार गोस्वामी जी के कथानुसार (पृष्ठ-246) ‘विज्ञान के सम्बन्ध में उनकी जानकारी ऐसी नहीं कि वे विज्ञान पर आधारित मौलिक रचनाएँ हिन्दी में लिख सकें। विज्ञान के किसी भी पक्ष पर लिखना तो उसी के लिए सम्भव है, जो विज्ञान का अध्येता रहा हो। विज्ञान पर लिखना एक तकनीकी कार्य है। इसके लिए विज्ञान की पृष्ठभूमि अनिवार्य है। विज्ञान के विभिन्न विषयों के लेखन में केवल कल्पना या शब्दजाल से काम नहीं चलाया जा सकता।’ हिन्दी के दकियानूसी साहित्यकारों को समझना चाहिए कि उपन्यास, कहानी और नाटक ही केवल साहित्य नहीं है, विज्ञान-लेखन भी एक विधा है। उपन्यास-कहानी तो दिल्ली में चाय बेचनेवाला अथवा मुम्बई का मोची भी लिख सकता है। एक अनपढ़ तथा हाई स्कूल पास भी कहानीकार या उपन्यासकार बन सकता है किन्तु हिन्दी-विज्ञान लेखन वह ही कर सकता है जो इंजीनियर, चिकित्सक, प्राध्यापक तथा वैज्ञानिक हो और ये प्रतिष्ठा बिना उच्च शिक्षा के मिलती नहीं।

डॉ. दया कृष्ण विजयवर्गीय के इन विचारों (पृष्ठ-60) से मैं सहमत हूँ कि ‘साहित्यकार किसी विज्ञान विषय का अधिकारी विद्वान हो न हो, पर उसे विज्ञान विषय का विहंगम पाठक तो होना ही चाहिए।’ प्रसंगवश मुझे याद आया कि उत्तर प्रदेश की एक सरकारी संस्था में तथा दिल्ली की एक सरकारी संस्था में बाल-साहित्य के अन्तर्गत पुरस्कार हेतु मैंने अपनी कुछ पुस्तकें भेजी। यह सभी विज्ञान-कथाएँ थीं जो इन ईर्ष्यालु साहित्यकारों को पसन्द नहीं आई। जबकि मध्यप्रदेश सरकार द्वारा

इन सभी (आठ-दस) पुस्तकों की 5250 प्रतियाँ प्रति पुस्तक इस वर्ष खरीद ली गईं। सम्भवतया ये एजेसियाँ भ्रष्ट तरीके अपनाकर बच्चों को तोता-मैना की कहानी पढ़ाना चाहती हैं, ज्ञान-विज्ञान की कहानियाँ नहीं। हिन्दी-विज्ञान लेखकों की एक अद्वितीय उपलब्धि यह है कि इन्होंने न केवल विज्ञान-लेखन के क्षेत्र में सम्मान/पुरस्कार प्राप्त किए हैं अपितु साहित्यिक क्षेत्र में भी सम्मानित हुए हैं, जबकि साहित्यकारों के विषय में प्रश्नचिह्न लग जाता है?

विद्वान साहित्यकार श्री राजकुमार सैनी का मानना है (पृष्ठ-139) कि श्रेष्ठ कोटि का साहित्य-बोध अथवा कला-बोध विज्ञान-बोध का परिपूरक होता है.....श्रेष्ठ वैज्ञानिक लेखक यदि सृजनात्मक दृष्टि से सम्पन्न हो तो उससे वैज्ञानिक लेखन को चार-चाँद लग जाते हैं। श्री सैनी जी और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं (पृष्ठ-139) 'लोकप्रिय एवं रोचक विज्ञान-लेखन के लिए वैज्ञानिक एवं साहित्यकार दोनों का संयोग मणिकांचन है। हिन्दी और भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक-लेखन को रोचक, सरस तथा आकर्षक रूप में प्रस्तुत करने के लिए व्यक्ति में दोनों गुण विद्यमान हों, यानी वह साहित्यिक प्रतिभा-सम्पन्न भी हों और वैज्ञानिक भी तो उसका विज्ञान-लेखन सोने में सुहागा होगा, इसमें सन्देह नहीं किन्तु सन्देह है यदि साहित्यकारों की मानसिकता पूर्वाग्रही न हो और निर्णय में पारदर्शिता हो। साहित्य अकादमी, भारतीय ज्ञानपीठ तथा उत्तर प्रदेश की हिन्दी संस्थान आदि संस्थाओं ने कितनी ऐसी कृतियों को मान्यता दी है जो साहित्यिक होते हुए भी वैज्ञानिक हैं? सम्भवतया कोई भी नहीं। कारण कि यहाँ पारदर्शिता तो है 'अन्धा बाटे रेवड़ी फिर-फिर अपने को दे'। इस प्रकार साहित्य अकादमी, भारतीय ज्ञानपीठ तथा प्रान्तों की साहित्य अकादमियों द्वारा हिन्दी-साहित्य तथा विज्ञान-साहित्य के संयोग व गुंफन से जो साहित्य तैयार है उसको पूर्णतया उपेक्षित किया जाता है अतः डॉ. शोफाली भटनागर का यह कहना (पृष्ठ-38) कि 'विज्ञान-साहित्य उपेक्षित नहीं हो रहा बल्कि विज्ञान-साहित्य है ही नहीं' सर्वथा असत्य है। मौलिक विज्ञान-लेखन को (पृष्ठ-39) मात्र अनुवाद कहनेवाली डॉ. शोफाली 'मनोहर कहानियाँ' या 'मेरी सहेली' की पाठक लगती है। मेरी एक दर्जन पुस्तकों के 7-8 संस्करण छप चुके हैं और अधिकतर पुरस्कृत हैं, अतः यह कहना (पृष्ठ-38) कि 'अच्छा वैज्ञानिक-लेखन उपलब्ध नहीं है।' स्वयं अपनी विस्तृत पठनीयता का प्रमाण दे रही है?

डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव जी द्वारा सम्पादित कृति को चार खण्डों में बाँटा गया है (1) लोक-विज्ञान तथा साहित्य-साधना : आपसी सम्बन्ध, (2) लोक-विज्ञान तथा साहित्य-साधना : विज्ञान-बोध के स्वर, (3) लोक-विज्ञान तथा साहित्य-साधना : चुनौतियों के रूपाकार, (4) लोक-विज्ञान तथा साहित्य-साधना : संवाद-परिणति।

प्रथम खण्ड में सोलह विद्वान साहित्यकारों के निबन्धों को समायोजित किया गया है। द्वितीय खण्ड में नौ, तृतीय खण्ड में चौदह तथा चतुर्थ खण्ड में कृति के

सम्पादक डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव जी ने समायोजित लेखकों तथा उनके निबन्धों के विश्लेषणात्मक विचारों से अवगत कराया है। सद्यः कृति सूचनाप्रद एवं ज्ञानवर्धक के साथ-साथ हिन्दी विज्ञान-लेखन और साहित्य-लेखन हेतु सेतु का कार्य भी करेगी, साहित्यकारों को इस अभिनव दृष्टिकोण पर सोचने के लिए बाध्य करेगी। समीक्ष्य पुस्तक के अध्ययन एवं चिन्तन से आशा है साहित्यकार डॉ. कुमार विमल के इन विचारों (पृष्ठ-159) से सहमत होंगे कि 'व्यक्ति और समाज के लिए साहित्य-बोध और विज्ञान-बोध दोनों की आवश्यकता है, इसलिए साहित्य के माध्यम से लोकप्रियकरण आवश्यक है। इस दृष्टि से विज्ञान को साहित्य का विषय बनाया जाना चाहिए।'।

हिन्दी विज्ञान-साहित्य की ऐसी कोई विधा नहीं जिस पर विज्ञान लेखकों ने अपनी लेखनी न चलाई हो। कहानी, उपन्यास, नाटक, यात्रा-वृत्तान्त, जीवनी, आत्मकथा, निबन्ध, एकांकी आदि सभी विधाओं पर हिन्दी-विज्ञान साहित्य उपलब्ध है। पाठकों की भी कोई कमी नहीं, यदि कारण है तो केवल साहित्य के मठाधीशों में उभरता अहंकार। यह वह दम्भ है जिसने राष्ट्र-चेतना तथा राष्ट्र-प्रगति को बाधित किया है। कहानी और उपन्यासों से कभी देश आगे नहीं बढ़ा है। इनके द्वारा समाज का चित्र अवश्य दिखाई देता है। राष्ट्र की प्रगति के लिए विज्ञान-साहित्य अनिवार्य है चाहे वह किसी भी विधा से जन-जन तक पहुँचाया जाए।

अन्त में मुझे सहानुभूति है उन साहित्यकारों से जिन्होंने कभी साहित्य पढ़ा ही नहीं। एम.ए. की शिक्षा प्राप्त की अंग्रेजी भाषा से और साहित्यकार बन गए हिन्दी क्षेत्र में! अतः डॉ. हेतु भारद्वाज को कहना पड़ा (पृष्ठ-287) 'यह हमारा ही समाज है जिसमें हम अपनी ही विरासत से घृणा करते हैं' अपनी परम्परा से, अपनी संस्कृति से, अपने साहित्य से और अपनी भाषा से।' विद्वान साहित्यकार कमलेश्वर जी ने प्राक्कथन में जो विचार व्यक्त किए वे सराहणीय हैं, प्रेरक हैं। आपने कहा 'लोक-विज्ञान तथा साहित्य-साधना' के माध्यम से साहित्य-जगत तथा विज्ञान-साहित्य प्रणेताओं के बीच यह जो संवाद-सेतु निर्मित हुआ है, हिन्दी भाषा की समृद्धि में निश्चय ही सहायक होगा। रचनाकर्म के लिए नई विधा, नए आयाम तथा नए क्षितिज का निर्माण करेगा।'।

पुस्तक उपयोगी और संग्रहणीय है। आवरण आकर्षक है। सद्यः कृति का मूल्य उचित है। पुस्तक विश्व हिन्दी न्यास ऑसवीगो (न्यूयार्क) से प्रकाशित होने से इसकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

विश्वास है कि प्रबुद्ध पाठकों, वैज्ञानिकों तथा साहित्यकारों द्वारा इस पुस्तक का व्यापक स्वागत होगा। विद्वान सम्पादक के भागीरथ प्रयास को बधाई देते हुए पुस्तक की लोकप्रियता के लिए हार्दिक शुभकामनाएँ।

सम्पादक : डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव, **प्रकाशक** : डॉ. राम चौधरी, अधिशासी निदेशक (विश्व हिन्दी न्यास), 54, पैरी हिल रोड, ऑसवीगो, न्यूयार्क-13126 (यू.एस.ए.), **वितरक** : हिन्दी बुक सेण्टर, 4/5-बी, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002, **आकार** : डिमाई, **मूल्य** : 380.00, **पृष्ठ** : 386+10

पाठकीय प्रतिक्रिया

आपकी पत्रिका के अब तक प्रकाशित चार अंक देखे। इतनी उत्कृष्ट चिन्तन एवं शोधपरक सामग्री से मैं समृद्ध हुआ। चिन्तन एवं सृजन की दुनिया में फैले वामपंथी जाल को काटने में यह पत्रिका जिस महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रही है, वह स्तुत्य है। फिर भारत के मूर्खन्य विद्वानों का सहयोग आपको प्राप्त है। मैकाले ब्राण्ड मार्क्सवादियों ने भारतवासियों को स्मृति विहीन बनाने का घोर अपराध किया है। ये स्वयं अपना कितना अहित कर रहे हैं, ये नहीं जानते।

विश्व के समक्ष सशक्त ढंग से खड़ा होने के लिए भारतवासियों में स्वत्व-बोध जागृत करने की तीव्र आवश्यकता है। भारत को वैचारिक रूप से स्वतन्त्र करने के लिए उसे मार्क्सवादी जकड़न से मुक्त करना होगा। आपकी पत्रिका इसमें अवश्य सफल होगी।

एक विनम्र सुझाव हैवर्तनी की अशुद्धियाँ न होने दें। जुलाई-सितम्बर 2004 के आपके सम्पादकीय में 'दिखाई' (दिखाई) 'दोनों' (दोना) 'स्थिति' (स्थिति) विकाश (विकास) छप गया है। आशा है, अन्यथा न लेंगे।

डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त, प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, दी. द. उ. गो. वि. वि., गोरखपुर

आपकी पत्रिका हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अग्रणी पत्रिकाओं में से एक का स्थान ग्रहण कर रही है।

जी. एन. व्यास, पुस्तकालयाध्यक्ष, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय, भोपाल

हिन्दी में उच्चस्तरीय बौद्धिक विमर्श का राष्ट्रवादी मंच बनाने के लिए आस्था-भारती की पहल प्रशंसनीय है। इस अंक में प्रस्तुत सभी सामग्री गवेषणात्मक और विचारातेजक है। वैचारिक क्षितिज पर व्याप्त धुंध और कुहासे को चीरने में 'चिन्तन-सृजन' की अग्निगर्भ भूमिका के प्रति मैं आश्वस्त हूँ और प्रभु से कामना करता हूँ कि यह पत्र मासानुमास उत्कर्ष-पथ पर अग्रसर होता हुआ राष्ट्रजन के विवेक को पैना बनाने में अग्रणी भूमिका का निर्वाह करे।

डॉ. भगवानशरण भारद्वाज, चित्रकूट (उ.प्र.)

जुलाई-सितम्बर के अंक के लिए बधाई! इस अंक में श्री रमेशचन्द्र शाह की नायपाल की रचनाओं की समीक्षा, राज थापर का कम्युनिस्ट रहस्य और आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल लिखितप्राचीन पारस का इतिहासऐसे महत्वपूर्ण आलेख आ गए हैं। एतदर्थ बधाई। इस दृष्टि से चिन्तन-सृजन का कोई प्रतिस्पर्द्धी नहीं है। वर्षों से ऐसी पत्रिका की प्रतीक्षा हो रही थी। अतः मेरी शुभकामना स्वीकार करें।

(प्रो.) शत्रुघ्न प्रसाद, पटना

'चिन्तन-सृजन' पत्रिका प्रथमतः पढ़ा, भरपूर बौद्धिक खुराक प्राप्त की। लम्बी गुलामी से बनी और अब भी शेष हीन सोच, दोषपूर्ण विकास और अब भीषण सांस्कृतिक प्रदूषण की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में वैचारिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए 'चिन्तन-सृजन' जैसी तेजस्वी विचारों की पत्रिका की महती आवश्यकता है, इसलिए भी कि प्रचंड वैश्वीकरण उर्फ बाजारीकरण के इस दौर में जब सब कुछ बिकाऊ-खाऊ है, भारतीय संस्कृति का संवर्धन अत्यावश्यक है। हाँ, यह निस्संदेह जरूरी है कि जब विकास की धुरी विज्ञान पर टिकी है तो सृजनात्मक चिन्तन को विज्ञान वैचारिकी से अलग-थलग नहीं रख सकते। अपेक्षित बदलाव, सतत विस्तार तथा नए क्षितिज हेतु सृजनात्मक तथा वैज्ञानिक चिन्तन का सुसंगम अपरिहार्य होगा, अन्यथा एक के बिना दूसरा क्रमशः अंधा और लंगड़ा हो सकता है। आशा है, भावी अंकों में विज्ञान वैचारिकी को समुचित स्थान दिया जाएगा। हार्दिक शुभकामनाएँ!

डॉ. रामचन्द्र मिश्र, विज्ञानवाचस्पति, पूर्व सम्पादक, 'क्षितिज', आई आई टी, मुम्बई

आपकी पत्रिका के नवीनतम अंक की प्राप्ति के लिए धन्यवाद। पत्रिका की सामग्री कहीं-न-कहीं विभिन्न सामयिक मुद्दों से जुड़ी है जिसके कारण पाठक आपकी पत्रिका से जुड़ा पाते हैं। आपकी पत्रिका का कलेवर, छपाई एवं कागज उच्चकोटि का है। रचनाओं की विविधता क्रम एवं प्रूफ रीडिंग द्वारा गलतियों का अभाव आपके कुशल सम्पादन का परिचायक है।

दिवाकर गोयल, उप महाप्रबंधक (कार्मिक एवं प्रशासनिक) नेताजी सुभाष चन्द्र बोस अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा, कलकत्ता; सम्पादक 'चेतना'

हिन्दी में 'वैचारिकी के पक्ष को लेकर एक बड़े आग्रह की पूर्ति इस पत्रिका के माध्यम से हुई है।

नित्यानन्द श्रीवास्तव, प्रवक्ता, सी. जी. एन. पी. जी. कॉलेज, लखीमपुर-खीरी (उ.प्र.)

'चिन्तन-सृजन' का जुलाई-सितम्बर 2004 का अंक प्राप्त हुआ। धन्यवाद। इसमें संकलित सामग्री इतनी दुर्लभ, रोचक और खोजपूर्ण है कि सभी लेखों को पढ़ गया। सम्पादकीय का यह आकलन अक्षरशः सत्य है कि यह देश अपने आपसे अपने ही विरुद्ध लड़ रहा है। रमेशचन्द्र शाह ने श्री वी. एस. नायपाल की यात्रा कृतियों से इस्ताम और उसके अनुयायियों और धर्मान्तरित लोगों की मनोवृत्ति पर जो चिन्तन प्रस्तुत किया है वह गहन, अद्भुत और तर्कपूर्ण है। यह सही है, "इस्ताम का चरित्र

साम्राज्यवादी है। उसके लिए सारे तीर्थ अरब में होते हैं और एक मात्र पवित्र भाषा अरबी।” इकबाल को पाकिस्तान का विचार-बीज बोलनेवाले के रूप में ठीक ही उद्धृत किया गया है। डॉ. लोकेशचन्द्र ने दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक परिचय देकर पाठकों का ज्ञान वर्द्धन किया है। ‘खस और पैशाची भाषाएँ’ राजमल बोरा का गवेषणात्मक लेख है। इसी प्रकार रामचन्द्र शुक्ल का ‘प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास’, फ्रास्वाँ गुतियर का ‘धर्म-निरपेक्षवाद’, दया प्रकाश सिन्हा का ‘पाकिस्तान का सत्य’ निश्चय ही पठनीय है।

अनसारुद्दीन इब्राहीमोव के ‘उज्बेक-भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध’ में पंचतंत्र का अरबी अनुवाद ‘कलीला-दीमना’ का उल्लेख समीचीन और सामयिक है। अमीर खुसरो की भी अनेक रचनाएँ उज्बेकिस्तान में संगृहीत हैं। वह वहाँ भी उतना ही लोकप्रिय था। कहना न होगा कि अमीर खुसरो और बेदिल पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता है। और भी कई लेख सारगर्भित और उच्च कोटि के हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लेखों का संकलन बड़ी उदार और निष्पक्ष भावना से किया गया है जो अछूते और यथार्थ तथ्यों को उजागर कर सत्य का उद्घाटन करते हैं। कुशल सम्पादन के लिए बधाई।

डॉ. परमानन्द पांचाल, राष्ट्रपति के भूतपूर्व विशेष कार्य अधिकारी (भाषाएँ), पूर्व परामर्शदाता इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली; मंत्री, नागरी लिपि परिषद्, दिल्ली

‘चिन्तन-सृजन’ के अंक लगातार देख रहा हूँ। जिस उद्देश्य को लेकर आप पत्रिका निकाल रहे हैं वह काफी अच्छा है। किन्तु अभी तक के चार अंकों को देखकर ऐसा लगता है कि यह जहाँ एक ओर वामपंथ के विरोध में अत्यधिक मुखर है वहीं दूसरी ओर दक्षिणपंथ के प्रति मौन साधे हुए है। आपको यह भी ध्यान रखना होगा कि भारतीयता की गाँधी द्वारा दी गई उदार और स्वस्थ परम्परा की ओर चलना है या कि करपात्री जी द्वारा व्याख्यायित संकीर्ण भारतीयता की ओर। यदि संतुलित दृष्टिकोण अपनाएँगे तो पत्रिका की विश्वसनीयता ही बढ़ेगी। कितना अच्छा होगा यदि आप पत्रिका के अंकों को कभी-कभार कुछ विषय विशेष (जैसे धर्म निरपेक्षता, इतिहास लेखन का विवाद, भारतीयता) पर या व्यक्ति विशेष (आनन्द कुमार स्वामी, अरविन्द आदि) पर केन्द्रित करें।

शत्रुघ्न चतुर्वेदी, सागर विश्वविद्यालय, सागर

सदियों से एक के बाद एक की गुलामी के कारण विभ्रमित भारतीय को उसकी पहचान करवाना कोई आसान कार्य नहीं है। मैं ‘चिन्तन-सृजन’ त्रैमासिक के रूप में आपके प्रयास का प्रशंसक हूँ।

केशिकान्त, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला

‘चिन्तन-सृजन’ का अप्रैल-जून अंक आपके द्वारा कटिहार में प्राप्त हुआ था। इसके सभी लेख पठनीय एवं मननीय हैं। सम्पादकीय यथार्थ को खोलता है। किन्तु हमारी आवाज नकारतूती सी हो गई है। विभिन्न खेमों में विभक्त लोगों की न तो कोई आचार-संहिता है और न उनकी कोई अहमियत। ऐसी स्थिति में हम गूँगे और अन्धे-बहरे हो गए हैं। इसीलिए न तो हम शब्दों अर्थ को समझ पाते हैं और न अपने आचरण में बदलाव ला रहे हैं। केवल मुट्टी भर लोगों की सक्रियता बरकरार है, जो इस हल्ला-गुल्ला में विलीन हो गई है। वह पाथेय बनने के पहले ही लुप्त हो जाती है।

प्रो. धर्मदेव तिवारी ‘शास्त्री’, पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काटन कालेज एवं गुवाहाटी विश्वविद्यालय तथा पूर्व विजिटिंग प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, अरुणाचल विश्वविद्यालय, ईटानगर

‘चिन्तन-सृजन’ का नया अंक प्राप्त हुआ, धन्यवाद। अपने नाम के अनुरूप ही यह पत्रिका चिन्तन परक लेखों को समेटे हुए है। ‘राष्ट्र की बढ़ती समस्याएँ’ सम्पादकीय में आपने जिन मुद्दों को उठाया है वे आपमें ज्वलंत मुद्दे हैं, विचारणीय हैं, हम सबका जीवन हम सबसे जुड़े हुए हैं। राजनीतिक संस्कृति में बदलाव के साथ-साथ सार्वजनिक जीवन में भी बदलाव की आवश्यकता है। सांस्कृतिक प्रदूषण की शिकार हमारी पीढ़ी जिस तरह स्वच्छन्द होती जा रही है। यह देखकर लगता है कि हमें नए सिरे से अपनी समूची जीवन पद्धति, विचारों, संस्कारों तथा भारतीय मूल्यों के बारे में गहन चिन्तन मनन करना होगा।

‘हिन्दी और भारतीय संस्कृति’, ‘सेक्युलर होने का सुख’ तथा ‘धर्मनिरपेक्षता’ लेख भी महत्त्वपूर्ण तथा चिन्तनपरक हैं।

उर्मिला शिरीष, सहा. प्राध्यापक, हिन्दी, महारानी लक्ष्मीबाई कालेज, भोपाल

चिन्तन-सृजन का ताजा अंक मिला, धन्यवाद। सारे आलेख भारतीयता के प्रति आकर्षित करते हैं। सम्पादकीय में जिन समकालीन यथार्थ मुद्दों को उठाया गया है, यदि उनका समाधान नहीं हुआ तो देश में भयंकर स्थितियाँ उत्पन्न हो जाएँगी। अब नागरिकों में जागरूकता लानी जरूरी है। श्री रमेशचन्द्र शाह, रमानाथ त्रिपाठी, फ्रांस्वा गुतियर के आलेख विशेष सार्थक लगे। आम पाठकों से जुड़ने हेतु भाषा की दुरुहता से बचना जरूरी है। शैली में सहजता आवश्यक है। लोक साहित्य की भाषा, कथ्य और सांस्कृतिक बिन्दुओं पर भी आलेख छापें।

यादवेन्द्र शर्मा ‘चन्द्र’, बीकानेर

‘चिन्तन-सृजन’ का चौथा अंक मुझे प्राप्त हुआ, आपको इस पत्रिका के प्रकाशन के लिए ढेर सारी बधाई। इसे पढ़कर अच्छा लगा, खासकर, निर्मल वर्मा द्वारा दिया गया भाषण का अंश ‘वर्तमान समय में भाषा और साहित्य की स्थिति’ पढ़कर बहुत-सी नई बातों को जानने का मौका मिला। आपकी संस्था द्वारा आयोजित

तीन-दिवसीय गोष्ठी के बारे में जानकर प्रसन्नता हुई। इस पत्रिका के विकास की ढेर सारी शुभकामनाओं के साथ।

डॉ. वी. के. पाण्डेय, बोमडिला, अरुणाचल प्रदेश

‘चिन्तन-सृजन’ का जुलाई-सितम्बर 04 का अंक देखने को मिला। आज जब समाज को कतिपय राष्ट्रद्रोही, संस्कृतिद्रोही व मनुष्यद्रोही ताकतें खंडित विखंडित करने व उसे दिशाहीनता के अंधेरे में भटकाने का कुत्सित प्रयास कर रही हैं तब ‘चिन्तन-सृजन’ जैसी पत्रिका ही समाज को सही मार्ग दिखा सकती है। आप रिक्त स्थान की पूर्ति कर रहे हैं। हालाँकि इसे नाम के अनुरूप चिन्तन के साथ सृजन की पत्रिका बनाना भी आवश्यक है। हर अंक में विचारपूर्ण लेखों के साथ कुछ कहानियाँ, कविताएँ तथा व्यंग्य अवश्य दें। इस अंक में ‘सेकुलर होने का सुख’ अच्छा व्यंग्य बन पड़ा है जो कई लेखों पर भारी पड़ता है। छद्म धर्मनिरपेक्षता की इसमें जमकर खबर ली गई है। आपकी सम्पादकीय चिन्ता बहुत माकूल है। आपका यह कहना कि हम समस्याओं से आँख न चुराएँ, उनका समाधान खोजें, बहुत सामयिक है। काश हमारे राजनेता आपकी इस चिन्ता में शामिल हो सकते।

रामस्वरूप दीक्षित, टीकमगढ़

‘चिन्तन-सृजन’ का नया अंक मुझे मिल गया है। खूबसूरत है, आकर्षक और विचारोत्तेजक है। आपको चाहिए हर अंक में एक कहानी और एक कवि की कविताएँ अवश्य दें ताकि पता चले कि आप कैसा साहित्य प्रमोट करना चाहते हैं। बहरहाल इतनी बढ़िया पत्रिका निकालने के लिए दाद और मुबारक। घर में सबके लिए मेरी शुभकामनाएँ।

जसवन्त सिंह विरदी, जालन्धर

सम्प्रति हिन्दी की एकमात्र क्लासिक पत्रिका ‘चिन्तन-सृजन’ सितम्बर 04 मिली। आ. रामचन्द्र शुक्ल का ‘प्राचीन पारस का इतिहास’, में पारसी भाषा में संस्कृत का स्वरूप, प्राचीन-देव-असुर (अहुर) संघर्ष, अवेस्ता की भाषा पर आर्य प्रभाव; ‘खस और पैशाची भाषाएँ’ राजमल बोरा में मध्य एशिया का प्राचीन भाषायी रूप, हिमालय के उत्तर दक्षिण को मिलानेवाली खस, खसकुरा भाषा; डॉ. लोकेशचन्द्र का ‘एशियायी देशों में भारतांश’ में भारतीय संस्कृति का एशिया में विस्तार; फ्रांस्वा गुतियर का ‘धर्म निरपेक्षता’ में अंग्रेजी शिक्षा एवं मैकाले द्वारा भारतीय संस्कृति का बहिष्कार द्वारा भारत के स्वरूप को विकृत करना; दया प्रकाश सिन्हा का ‘पाकिस्तान का सत्य’ में गाँधी जी की मजबूरी और बँटवारा में नेहरू जी की जिद; तथा अनसारुद्दीन इब्राहिमोव का ‘उज्बेक भारतीय संस्कृति’ में अनेक संस्कृत ग्रन्थों का उज्बेक और अरबी अनुवाद आदि क्लासिक आलेखों के चयन से आप साहित्यर्षि शिव पूजन सहाय जैसे लगते हैं। साधुवाद।

डॉ. कमला प्रसाद बेखबर, संपादक, शैली, फारविसगंज

‘चिन्तन सृजन’ का जुलाई-सितम्बर अंक। इस अंक में रमेशचन्द्र शाह, लोकेशचन्द्र एवं राज थापर के लेख पसन्द आए। रामचन्द्र शुक्ल का लेख ‘प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास’ चिन्तामणि में संकलित है। पत्रिका ठीक-ठाक है, लेकिन सम्पादकीय समस्याओं को सरलीकृत करता है।

भारत भारद्वाज, नई दिल्ली

जुलाई-सितम्बर 2004 अंक पढ़कर मन प्रसन्न हो उठा। रमेशचन्द्र शाह, राज थापर, रमानाथ त्रिपाठी, रामचन्द्र शुक्ल और दया प्रकाश सिन्हा के लेख अत्यन्त मूल्यवान हैं। ‘सेक्युलर होने का सुख’ (डॉ. नन्दलाल मेहता ‘वागीश’) भी पठनीय, आनन्ददायक है। किन्तु उक्त पाँचों लेखों का तो महत्त्व विलक्षण है। एक ही अंक में पाँच संग्रहणीय सामग्रीलम्बे समय से ऐसी कोई पत्रिका नहीं पाई। हार्दिक बधाई और साधुवाद स्वीकार करें। यदि प्रूफ की गलतियाँ और सुधारी जाएँ तो अच्छा होगा।

डॉ. संजय कुमार झा, नई दिल्ली

‘चिन्तन-सृजन’ जैसी उच्च कोटि की ‘वैचारिक’ पत्रिका का अंक प्राप्त करना सौभाग्य कामना से कम नहीं है। पता नहीं यह पत्रिका पुस्तक-पत्र विक्रेताओं के यहाँ मिलने लगी है या नहीं। होती तो वहाँ देख लेता।

वर्ष 2 अंक 1 का राज थापर वाला लेख अभी तक पढ़ा है। इसकी सुन्दरता आलोचना और संयम में कही जाएगी। उच्छ्वास इसमें कहीं नहीं लगा।

श्री बाबूराम वर्मा, देहरादून

पत्रिका विचारणीय एवं संग्रहणीय है।

राम निवास दुर्वा, जयपुर

‘चिन्तन-सृजन’ त्रैमासिक के द्वितीय अंक को देखने का सुअवसर मिला। यथा नाम तथा गुण। त्रैमासिक चिन्तन-सृजन दोनों की क्षमता से परिपूर्ण है। जहाँ यह मनश्चेतना को झकझोरती है वहीं सर्जनात्मक समृद्धि को प्रश्रय देती है। सम्पादकीय से लेकर पाठकीय प्रतिक्रिया तक चौदह आयामों को समेटे यह महर्षि अरविन्द के महाकाव्य ‘सावित्री’ की महाकाव्यात्मक विराटता को अपने कलेवर में समेटे हुए है। सचमुच, वैचारिक मंथन की रासायनिक प्रक्रिया में यह एक केटिलिस्ट का काम करती है। इसे विचारों की पत्रिका (journal of ideas) कहना यथोचित होगा। सम्पूर्ण अवलोकन के उपरान्त जो मक्खन छलककर धरातल पर आता है वह है बातों का दो टूक शब्दों में कबीरी फक्कड़पन के साथ प्रस्तुतीकरण। सर्वप्रथम सम्पादकीय को लें। लगता है कोई शुभचिन्तक सही समय पर गड्ढे में गिरनेवाले किसी व्यक्ति को सचेत कर रहा है। और वैचारिकी का फलक भी काफी बड़ा है। यह किसी सम्भावित किन्तु अपरिहार्य खतरे के विरुद्ध चेतावनी है। वस्तुतः आज यह हिन्दीभाषी जाति (आर्यावर्त

में रहनेवाली) एक एण्डेन्जर्ड स्पेसीज की तरह है जो लुप्तप्राय होनेवाली है। यह सामयिक खतरे की घंटी है। सम्पादक ने भगीरथ प्रयत्न किया है। अपनी तमाम क्षमताओं के बावजूद यह उर्वर हिन्दी समुदाय बंजर बनने जा रहा है। सम्पादक ने उस त्रासदी की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। वे हिन्दी के वीर सपूत हैं। और मैं उन्हें परमवीर चक्र प्रदान करने की सिफारिश करता हूँ। साथ ही वे उस वैद्य की तरह हैं, जिन्होंने इस व्याधि के कारण एवं निदान की विस्तृत चर्चा करके उसका ऑपरेशन करने का भरसक प्रयास किया है। It is a thought-provoking editorial.

शंकर शरण का लेख 'मार्क्सवादी अपराधों की अटूट शृंखला' और रामजी सिंह का लेख 'बिहार आन्दोलन की शव परीक्षा' दोनों ही जिन्दा ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। मार्क्स, जयप्रकाश नारायण और महात्मा बुद्ध के अनुयायियों ने एक ही तरह का अपराध किया। मार्क्सवादियों ने कुलीन जीवन शैली अपनाकर निरीह जनता का शोषण किया। जनता पार्टी के नेताओं ने जयप्रकाश नारायण को उनके जीवन काल में ही अपने स्वार्थ के लिए जिन्दा दफना दिया। आज सिर्फ स्तालिन की तरह उनकी सड़ी गली हड्डियों को कब्र से निकालकर सड़क पर घसीटना ही बाकी है। जनता जानना चाहती है कि आखिर कौन-सा मन्त्र वे उनके कान में फूँककर प्रस्थान कर गए कि उनके अनुयायियों ने एक आतंक राज्य (reign of terror) स्थायी रूप से कायम कर दिया है। और इसे सही साबित करने के लिए वे जयप्रकाश नारायण की दुहाई देते हैं। रामजी सिंह मेरे पड़ोस के हैं और भागलपुर विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित विद्वान प्राध्यापक रह चुके हैं। जनता पार्टी के शासन काल में वे भागलपुर लोकसभा क्षेत्र का प्रतिनिधित्व भी कर चुके हैं। प्रस्तुत विषय पर कुछ कहने लिखने के वे सर्वाधिकारी हैं और उनके सरीखे सर्जन ही बिहार आन्दोलन जैसे पुनीत प्रयास की दिनदहाड़े निर्मम हत्या का पोस्टमार्टम प्रामाणिकता के साथ कर सकते हैं।

डॉ. ब्रज बिहारी कुमार का लेख 'आदिवासी-गैर-आदिवासी सातत्य' एक खोजपरक दस्तावेज है। उन्होंने एक नृवैज्ञानिक की तरह आदिवासियों के बारे में प्रचलित भ्रान्तियों एवं रूढ़िगत मान्यताओं को दूर करने तथा उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनकी विवेचना से यह ज्ञात होता है कि वे समाजभाषिकी (sociolinguistics) के अनुभवी जानकार हैं। शब्दावली विषय एवं विवेचना के अनुरूप है। यहाँ उनका एक प्रयास मेरा ध्यान बरबस आकर्षित करता है। यह है उनकी गैर औपनिवेशिक दृष्टि (decolonial outlook)। हम भारतवासी भी अंग्रेजों के चश्मे से ही विभिन्न भारतीय समुदायों को देखते हैं। ब्रज बिहारी कुमार ने उस चश्मे को चकनाचूर कर उसे वैज्ञानिक चश्मे से देखने परखने का प्रयास किया है। यहाँ वे एक शिक्षक की भूमिका का बखूबी निर्वाह करते हैं। उनके इस भगीरथ प्रयास के लिए मेरी ढेर सारी शुभकामनाएँ।

वैद्यनाथ सिंह, प्रवक्ता, अंग्रेजी विभाग, इन्दिरा गाँधी गवर्नमेण्ट कॉलेज, तेजू,
अरुणाचल प्रदेश

चिन्तन-सृजन का आलेख-समृद्ध जुलाई-सितम्बर 04 अंक पढ़कर अशेष संतुष्टि मिली।

हिन्दी साहित्य को पिछले दो सौ वर्षों के पश्चात भी साहित्येतर विषयों पर सुगंभीर एवं पठनीय सामग्री की बहुत आवश्यकता है जो समय के बदलते मिजाज को प्रतिबिम्बित कर सके। आज भी ऐसे विषयों पर किसी पत्रिका को अपना स्तर बनाए रखने के लिए घोर संघर्ष करना पड़ता है।

Dialogue में भी आपने इतिहास और संस्कृति के कई पक्षों पर अनूठे आलेख प्रकाशित किए हैं, कृपया उनके अनुवाद 'चिन्तन-सृजन' में इसी तरह प्रकाशित करते रहें।

'रिक्थ' बहुत अच्छी शुरुआत है। भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी से लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा और अज्ञेय तक के वरिष्ठ लेखकों ने साहित्येतर विषयों पर सुगंभीर लेखन तो किया ही था, इस दिशा में अन्य लोगों को प्रोत्साहित करते हुए पूरे भारत के निष्ठावान लेखकों को अपनी पत्रिकाओं की ओर आकर्षित किया था।

अप्रैल-जून 2004 के अंक में प्रकाशित मेरे आलेख 'साहित्य के सहयात्री' पर श्रीरंजन जी सूरिदेव की मूल्यवान टिप्पणी के लिए आभारी हूँ। 'किछु देखल: किछु सुनल' के हिन्दी अनुवाद के प्रति मैं स्वयं से प्रतिश्रुत हूँ। यह कार्य अवश्य करूँगा।

जुलाई-सितम्बर अंक में प्रकाशित मूल्यवान आलेखों में वी. एस. नायपॉल की दो यात्रा-कृतियाँ (रमेशचन्द्र शाह), अन्य एशियाई देशों में मिलता भारतांश (डॉ. लोकेशचन्द्र), खस और पैशाची भाषाएँ (राजमल बोरा) आदि उल्लेखनीय हैं। रामचन्द्र शुक्ल का आलेख तो एक दस्तावेज है ही।

पत्र का समापन इसी अंक में प्रकाशित विश्वनाथ प्रसाद तिवारी जी के महत्त्वपूर्ण पत्रांश से करना चाहूँगा

“इस पत्रिका में प्रकाशित होनेवाले लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और शोधपरक हैं। इन्हें किसी एक विचारधारा से जोड़कर खारिज नहीं किया जा सकता। ऐसे लेखों का प्रकाशन जरूरी है क्योंकि ये उस हीनता बोध पर चोट करते हैं जिसके समाप्त हुए बिना भारत अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता।”

मदन मोहन तरुण, पुणे